सत्ताके विभिन्न अंग
और
लोक-लोकांतर

श्रीअरविंद
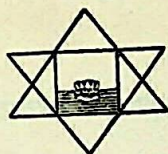
श्रीअरविंद

सत्ताके विभिन्न अंग और लोक-लोकान्तर

अदिति कार्यालय
पांडिचेरो-२

हम चैत्य पुरुषके विषयमें इससे पूर्व तीन पुस्तकें दे चुके हैं। चैत्य पुरुष हमारी सत्ताका केवल एक अंग है और अन्य अंगोंके साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। इसलिये स्वभावतः ही यह विचार उपस्थित हुआ कि सत्ताके अन्य अंगोंका परिचय भी यदि दे दिया जाय तो हमें चैत्य पुरुषकी धारणा भी अधिक सुस्पष्ट हो जायगी और अपनी सत्ताके विभिन्न अंगों तथा चेतनाके विभिन्न स्तरोंका भी ज्ञान हो जायगा। योगजीवनमें तथा विशेषकर श्रीअरविंदके रूपांतर-योगमें यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपनी सत्ताके विभिन्न अंगों और उनकी क्रियाओंको अलग-अलग समझ सकें, अपने-आपको पूर्ण रूपसे समझनेपर ही हम क्रमशः आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर सकते तथा आत्म-केंद्रित जीवनकी ओर अग्रसर हो सकते हैं।

यह पुस्तक भी विशेष रूपसे पत्रोंसे संकलित की गयी है, इसलिये प्रसंगवश कई अंगों या लोकोंका वर्णन मिला-जुला है। इसलिये हमने भी अंगों और लोकोंके वर्णनको अलग-अलग नहीं किया है। इन पत्रोंका क्रम इस प्रकारका है कि उनमें एक प्रकारका स्वाभाविक वर्गीकरण भी हो गया है। हम आशा करते हैं कि इससे पाठकोंको कोई कठिनाई न होगी और वे आसानीसे सत्ताके विभिन्न अंगों और लोकोंका परिचय प्राप्त कर लेंगे।

— संपादक

"सच्चा पुरुष भगवान्‌तक जाने और अभिव्यक्त करनेकी समस्त विशाल संभावनाओंसे पूर्ण आंतर पुरुष है और विशेषकर अंतरतम पुरुष, अंतरात्मा, चैत्य पुरुष है जो अपने मूल रूपमें सर्वदा ही शुद्ध, दिव्य है और जो कुछ शुभ और सत्य और सुन्दर है उसकी ओर मुड़ा रहता है। आंतर पुरुषको बाहरी सत्तापर अपना अधिकार जमा लेना होगा और उसे एक यंत्रमें परिणत कर लेना होगा जो अब अज्ञ अवचेतन प्रकृतिकी तरंगोंका यंत्र नहीं, बल्कि भगवान्‌का का यंत्र है। इसी बातको सदैव याद रखने तथा प्रकृतिको ऊपर-की ओर उद्‌घाटित करनेसे ही भागवत चेतनाको प्राप्त किया जा सकता है और वह चेतना ऊपरसे हमारे संपूर्ण आंतर और बाह्य जीवनमें, हमारे मन, प्राण, शरीर, अवचेतना और प्रच्छन्न चेतनामें, हम जो कुछ भी प्रकट या गुप्त रूपमें हैं सबमें अवतरित हो सकती है। यही हमारा सबसे प्रधान काम होना चाहिये।"

—— श्रीअरविंद

सत्ताके विभिन्न अंग
और
लोक-लोकान्तर

सत्ताके विभिन्न अंग और लोक-लोकान्तर

१

मनुष्य अपने-आपको जानते नहीं और न उन्होंने अपनी सत्ताके विभिन्न भागोंमें विभेद करना ही सीखा है। साधारणतया ये सभी भाग एक साथ मिला-जुला दिये जाते और 'मन' माने जाते हैं, क्योंकि मानसिक बोध और समझके द्वारा ही वे जाने जाते और अनुभूत होते हैं। अतएव मनुष्य स्वयं अपनी अवस्थाओं और क्रियाओंको नहीं समझते, अथवा, यदि कुछ समझते हैं तो बस ऊपरी सतहपर ही समझते हैं। योगके आधारका यह एक अंग है कि हम अपनी प्रकृति-की महान् जटिलताके विषयमें सचेतन हों, उसे चलानेवाली विभिन्न शक्तियोंको देखें तथा उसपर नियंत्रणकारी ज्ञानका एक संयम स्थापित करें। हम लोग अनेक अंगोंसे बने हैं जिनमेंसे प्रत्येक अंग हमारी चेतना, हमारे विचार, संकल्प, संवेदन, अनुभव, कर्म आदिकी संपूर्ण गतिविधिमें कुछ-न-कुछ अपना योगदान करता है, पर हम उसके आरंभबिंदुको अथवा इन प्रेरणाओंकी धाराको नहीं देखते। हम ऊपरी तलपर होनेवाले उनके केवल सम्मिश्रित और अस्तव्यस्त परि-णामोंको ही जानते हैं जिनपर हम अधिक-से-अधिक एक अनिश्चित परिवर्तनशील व्यवस्थासे अधिक अच्छी कोई चीज नहीं लाद सकते।

इसका उपाय केवल सत्ताके उन भागोंसे हमें मिल सकता है जो ज्योतिकी ओर मुड़ चुके हैं। इसका एकमात्र उपाय है ऊपरसे भागवत चेतनाकी ज्योतिका आवाहन करना, चैत्य पुरुषको सामने ले आना और अभीप्साकी दीपशिखाको प्रज्वलित करना जो आध्यात्मिक पथकी ओर बाह्य मनको जागृत करेगी तथा प्राण-सत्ताको जला देगी।

*

मेरे अनुभवके अनुसार, चेतना किसी ऐसे व्यापारको नहीं कहते जो प्रकृतिकी शक्तियोंके प्रति होनेवाली व्यक्तिकी प्रतिक्रियाओंपर निर्भर करता है तथा इन प्रतिक्रियाओंके देखने या उनकी व्याख्या करनेसे अधिक और कुछ नहीं है। यदि बात ऐसी ही हो तब तो व्यक्ति जब निश्चल-नीरव और अचल-अटल बन जाता है और कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तब चूंकि वह देखने या व्याख्या करनेकी कोई क्रिया नहीं करता इसलिये यह कहा जा सकता है कि उसमें कोई चेतना नहीं है। पर यह बात योगके कुछ मूलभूत अनुभवोंका ही खंडन कर देती है, उदाहरणार्थ, योगमें यह अनुभव होता है कि एक निश्चल-नीरव और अचल-अटल चेतना अनंततः फैली हुई है, व्यक्तित्वपर निर्भर नहीं वरन् निर्व्यक्तिक और सार्वभौम है, इंद्रिय और विषयोंके संपर्कोंको न देखती है, न उनकी व्याख्या करती है बल्कि निश्चल रूपसे आत्मसचेतन रहती है, प्रतिक्रियाओंपर निर्भर नहीं है बल्कि जब प्रतिक्रियाएं घटित नहीं होतीं तब भी अपने-आपमें स्थित होती है। स्वयं आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी केवल चेतनाकी ही एक रचना है जो कि एक अंतर्निहित शक्ति है, क्षणिक अभिव्यक्त व्यक्तित्वकी क्रियावलीमें नहीं वरन् सत्तामें, आत्मा या पुरुषमें अंतर्निहित शक्ति है।

चेतना सत्तामें अंतर्निहित एक सद्वस्तु है। यह वहां उस समय भी रहती है जब कि यह ऊपरी सतहपर सक्रिय नहीं होती, बल्कि शांत-निश्चल और गतिरहित होती है। यह उस समय भी वहां होती है जब कि ऊपरी सतहपर दृष्टिगोचर नहीं होती, बाहरी वस्तुओं-

पर प्रतिक्रिया नहीं करती या उनके लिये संवेद्य नहीं होती, बल्कि प्रत्याहृत होती और भीतर चाहे सक्रिय या निष्क्रिय होती है। यह उस समय भी वहां होती है जब कि यह हमें एकदम अनुपस्थित प्रतीत होती है तथा सत्ता हमारी दृष्टिमें अचेतन और जड़ मालूम होती है।

चेतना केवल आत्मा तथा वस्तु-संबंधी सज्ञानताकी ही शक्ति नहीं है, यह स्वयं एक क्रियाशील और सर्जनशील ऊर्जा है अथवा यह उसे अपने अंदर रखती है। यह अपनी निजी प्रतिक्रियाओंको निश्चित कर सकती अथवा प्रतिक्रियाओंसे अपनेको दूर रख सकती है। यह केवल शक्तियोंका प्रत्युत्तर ही नहीं दे सकती वरन् शक्तियोंकी सृष्टि कर सकती अथवा स्वयं अपने भीतरसे उनको उत्पन्न कर सकती है। चेतना चित् है और चित्-शक्ति भी है।

चेतना साधारण रूपसे मनके साथ अभिन्न होती है, पर मानसिक चेतना महज एक मानवीय क्षेत्र है; चेतनाके जो सब संभाव्य क्षेत्र हैं वे बस इसीके अंदर समाप्त नहीं हो जाते, जिस तरह कि मानवीय दृष्टिके अंदर रंगके सभी स्तर अथवा मानवीय श्रवणके अंदर शब्दके सभी स्तर निःशेष नहीं हो जाते — सच पूछा जाय तो ऊपर या नीचे ऐसी बहुतसी चीजें हैं जो मनुष्यके लिये अगोचर और अश्रव्य हैं। इसी तरह मानवीय स्तरसे ऊपर और नीचे चेतनाके ऐसे स्तर हैं जिनके साथ साधारण मानव-चेतनाका कोई संपर्क नहीं है और वे इसके लिये अचेतन — अतिमानसिक या अधिमानसिक और अव-मानसिक स्तर प्रतीत होते हैं।

जब याज्ञवल्क्य यह कहते हैं कि ब्रह्म-स्तरमें कोई चेतना नहीं है तब 'चेतना' से उनका मतलब होता है वह चीज जिसे मनुष्य चेतना कहता है। ब्रह्मकी स्थिति है परम सत्ताकी वह अवस्था जो चरम रूपमें अपने विषयमें सचेतन होती है — स्वयंप्रकाश होती है, — वह है सच्चिदानंद, सत्-चित्-आनंदकी स्थिति। जब उसके विषयमें यह कहा जाता है कि वह तत्के भी परे है — परात् परम्, तो भी इसका

अर्थ यह नहीं होता कि वह कोई अनस्तित्व या अ-चैतन्यकी स्थिति है, बल्कि वैश्व सत्ता और चेतनाके उच्चतम आध्यात्मिक स्तरसे भी ऊपरकी स्थिति है (जिसे ऋग्वेदके उज्ज्वल विरोधाभासके अंदर उपरि बुध्न एषाम् कहा गया है)। जिस तरह चीनके ताओके तथा बौद्धोंके शून्यके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि यह वह शून्यावस्था है जिसमें सब कुछ है, वैसे ही यहां चेतनाके अभावकी स्थितिसे भी वही मतलब निकलता है। अतिचेतन और अवचेतन तो केवल सापेक्षिक शब्द हैं; हम जैसे-जैसे अतिचेतनमें ऊपर उठते हैं, हम देखते हैं कि यह एक ऐसी चेतना है जो हमारी अबतक प्राप्त उच्चतम चेतनासे भी अधिक महान् है और इसलिये हमारी सामान्य स्थितिमें हमारी पहुंचसे परे है, और, हम यदि नीचे अवचेतनामें जायं तो हम देखेंगे कि वहां एक ऐसी चेतना है जो हमारी निम्नतम मानसिक सीमासे भिन्न है और इसलिये सामान्यतया हमारी पहुंचसे परे है। स्वयं निश्चेतना भी महज चेतनाकी एक निर्वत्तित स्थिति है जो ताओ और शून्यकी तरह ही, यद्यपि एक दूसरे ढंगसे, सभी चीजोंको अपने अंदर प्रकट रूपमें धारण करती है जिसमें कि ऊपर या नीचेसे दबाव पड़नेपर सब कुछ उसके अंदरसे विकसित हो सके—मानो "प्रसुप्त शक्तिसे युक्त कोई जड़ आत्मा" हो।

चेतनाके विभिन्न स्तर वैश्व स्थितियां हैं जो आत्मनिष्ठ व्यक्तिके दृष्टिकोणपर निर्भर नहीं हैं; बल्कि आत्मनिष्ठ व्यक्तिका दृष्टिकोण ही चेतनाके उस स्तरके द्वारा निर्धारित होता है जिसमें वह उसकी वर्गगत प्रकृति या उसके क्रमविकासकी स्थितिके अनुरूप गठित होता है।

यह स्पष्ट है कि चेतनाका तात्पर्य है एक ऐसी चीज जो मूलतः सर्वत्र एक है पर अपनी स्थिति, अवस्था और क्रियामें विभिन्न है; किसी-किसी स्तर या अवस्थामें, जिन क्रियाओंको हम चेतना कहते हैं, वे या तो दबी हुई या अव्यवस्थित अथवा अन्य रूपमें व्यवस्थित

स्थितिमें विद्यमान रह सकती हैं; फिर दूसरी स्थितियोंमें कुछ दूसरी क्रियाएं व्यक्त हो सकती हैं जो हमारे अंदर दबी हुई, अव्यवस्थित अथवा प्रसुप्त होती हैं अथवा फिर हमारी उच्चतम मानसिक सीमाके परेके उन उच्चतर स्तरोंकी अपेक्षा कम पूर्णताके साथ अभिव्यक्त, कम तीव्र, प्रसारित और शक्तिशाली होती हैं।

*

सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि चेतना अपनेको कहां-पर स्थापित करती है, कहांपर एकाग्र करती है। यदि चेतना अहंके अंदर अपनेको स्थापित या एकाग्र करती है तो तुम अहंके साथ एका-कार हो जाते हो — यदि मनमें करती है तो वह मन और उसकी क्रियाओंके साथ तादात्म्य हो जाती है और इसी भांति अन्य स्थानोंमें होता है। यदि चेतनाका दबाव बाहरकी ओर होता है तो कहा जाता है कि वह बाहरी सत्तामें निवास करती है और अपने आंतर मन, प्राण तथा अन्तरतम चैत्य पुरुषके विषयमें अचेत हो जाती है; यदि वह भीतर चली जाती है, वहां केंद्रीभूत होनेंके लिये दबाव डालती है तो वह अपनेको आंतर सत्ताके रूपमें जानती है अथवा, और भी गहराईमें जानेपर, चैत्य पुरुष समझती है; यदि यह शरीर-से बाहर उन लोकोंमें आरोहण करती है जहां आत्मा स्वभावतः ही अपनी विशालता और स्वतंत्रतासे सचेतन रहता है तो वह अपनेको आत्मा समझती है, न कि मन, प्राण या शरीर। चेतनाका यह सुझाव ही यह सब अंतर उत्पन्न करता है। यही कारण है कि मनुष्यको भीतर पैठने या ऊपर उठनेके लिये हृदय या मनमें अपनी चेतनाको एकाग्र करना पड़ता है। चेतनाका यह झुकाव ही सब कुछ निर्धारित करता है, मनुष्यको प्रधानतया मानसिक, प्राणिक, शारीरिक या चैत्य, बद्ध या मुक्त, पुरुषके अंदर पृथक् या प्रकृतिके अंदर निहित सत्ता बना देता है।

*

चेतनाको केंद्रीभूत होनेके अपने विभिन्न दवावको प्रयुक्त करनेके लिये किसी सुस्पष्ट व्यक्तिगत "मैं" की आवश्यकता नहीं होती,– जहां कहीं भी दवाव डाला जाता है, "मैं" आकर वहां चिपक जाता है, जिसके कारण मनुष्य अपनेको मनोमय पुरुष या भौतिक पुरुष अथवा चाहे और कुछ समझने लगता है। मेरे अंदरकी चेतना अपना दवाव चाहे इस प्रकार या उस प्रकार डाल सकती है — वह या तो नीचे शरीरमें जा सकती है और वहां भौतिक प्रकृतिमें क्रिया कर सकती है और बाकी सबको उस समयके लिये पीछे या ऊपरकी ओर रख सकती है; अथवा वह सिरसे ऊपरके स्तरमें चली जा सकती है और मन, प्राण तथा शरीरसे ऊपर अवस्थान करके उनकी ओर इस भांति ताक सकती है मानो वे उसके यंत्ररूप निम्न आकार हों या वह उनकी ओर बिलकुल ही नहीं ताक सकती और मुक्त निर्विशेष ब्रह्ममें लीन हो जा सकती है; अथवा यह अपनेको सक्रिय शक्तिगर्भ विश्व-चेतनामें निक्षिप्त कर सकती और उसके साथ एकात्म हो सकती है या असंख्य अन्य चीजें कर सकती है पर तुम जिसे सुस्पष्ट व्यक्तिगत "मैं" कहते हो उस अति महत्त्वप्राप्त और विघ्नकारी यंत्रारूढ़ मक्षिकाकी सहायता बिलकुल नहीं ले सकती। सच्चा "मैं" — यदि तुम इस शब्दका प्रयोग करना चाहो — "सुस्पष्ट व्यक्तित्व" अर्थात् सफाईसे कटा-छंटा सीमित पृथक्भूत अहं, नहीं है, वह तो विश्वकी तरह विशाल है, उससे भी अधिक विशाल है, अपने अंदर विश्वको धारण कर सकता है, पर वह अहंकार नहीं है, वह आत्मा है।

चेतना एक मौलिक वस्तु है, सत्ताकी एक मौलिक वस्तु है — चेतनाकी शक्ति, गति, स्पन्दन ही विश्वकी और विश्वमें जो कुछ है उस सबकी सृष्टि करती है — केवल विश्व-ब्रह्माण्ड ही नहीं बल्कि प्रत्येक पिंड भी और कुछ नहीं, केवल चेतनाकी ही एक व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, जब चेतना अपनी गतिमें या यों कहें कि अपनी गति

के किसी विशेष दवावमें अपने-आपको उस क्रियामें भुला देती है तो वह ऊपरसे देखनेमें "अचेतन" शक्ति वन जाती है; जव वह आकारमें अपनेको भूल जाती है तो वह विद्युत्कण, परमाणु, भौतिक वस्तु वन जाती है। सच पूछा जाय तो उस समय भी चेतना ही वह चीज होती है जो शक्तिके अंदर कार्य करती है और आकारका निश्चय करती है और आकारका विकास निर्धारित करती है। जव वह अपनेको धीरे-धीरे, क्रमधारामें, जड़तत्त्वमेंसे मुक्त करना चाहती है, पर आकारमें ही रहकर, तो वह प्राणके रूपमें, पशुके, मानवके रूपमें प्रकट होती है और वह अपनी निवर्तनकी अवस्थामेंसे और भी आगे विकसित होती रह सकती है तथा महज मनुष्यसे अधिक कोई चीज वन सकती है। यदि तुम इस वातको समझ सको तो फिर तुम्हें आगे यह समझ सकनेमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि वह आंतरिक रूपसे अपनेको एक भौतिक, प्राणिक, मानसिक और चैत्य चेतनाके रूपमें भी गठित कर सकती है—ये सभी चेतनाएं मनुष्यमें विद्यमान हैं, पर ये सव-की-सब चूंकि वाहरी चेतनामें एक साथ मिली-जुली हैं और इनकी सच्ची स्थिति पीछेकी ओर आंतर सत्तामें है, कोई इनके विषयमें केवल तभी पूर्णतः सचेतन हो सकता है जब कि वह चेतनाके इस मूल सीमाकारी दबावको दूर करके, जो कि हमें अपनी बाह्य सत्तामें निवास करनेको बाध्य करता है, जागृत हो जाय और आंतर सत्ताके अंदर केंद्रित हो जाय। जिस प्रकार हमारे अंदरकी चेतना, अपनी बाहरी एकाग्रता या दबावके द्वारा, इन सभी चीजोंको पीछे—एक दीवाल या पर्देके पीछे—रख देती है, वैसे ही उसे उस दीवाल या पर्देको भंग कर देना होता है और सत्ताके इन आंतर भागोंमें आनेके दवाव-पर वापस आना होता है—इसीको हम लोग अंदर रहना कहते हैं। उस समय हमारी बाहरी सत्ता हमें एक क्षुद्र और छिछली वस्तु प्रतीत होती है और हम अंतरस्थ विशाल और समृद्ध और अक्षय

साम्राज्यके विषयमें सचेतन होते हैं या हो सकते हैं। उसी तरह हमारे अंदरकी चेतनाने चैत्यपर आधारित मन, प्राण और शरीरके निम्नतर लोकों तथा उच्चतर लोकोंके बीच, जिनमें वे आध्यात्मिक राज्य विद्यमान हैं जहां आत्मा सदा मुक्त और सीमाहीन रहता है, एक ढक्कन या आवरण या जो कुछ भी तुम उसे कहना चाहो, डाल दिया है, और वह इस ढक्कन या आवरणोंको भंग या उद्घाटित कर सकती, आरोहण कर सकती तथा मुक्त, विशाल और ज्योतिर्मय आत्मा बन सकती है अथवा उच्चतर चेतनाके प्रभाव, प्रतिबिंब, अंतमें उसकी उपस्थिति तथा शक्ति-सामर्थ्यतकको निम्नतर प्रकृतिमें उतार ला सकती है।

बस, यही वह चीज है जिसे चेतना कहते हैं — यह कई भागों-से निर्मित नहीं है, यह सत्तामात्रके लिये मौलिक वस्तु है और यह स्वयं ही उन भागोंको निर्मित करती है जिन्हें वह अभिव्यक्त करना चाहती है — उन्हें ऊपरसे नीचेकी ओर, आध्यात्मिक स्तरोंसे धीरे-धीरे, क्रमशः, जड़तत्त्वमें निर्वतित होनेके लिये, नीचे आकर विकसित करती है अथवा जिसे हम क्रमविकास कहते हैं उस सामनेकी ऊर्ध्वमुखी क्रियाके द्वारा उन्हें आकार प्रदान करती है। यदि वह तुम्हारे अंदर अहंकारके द्वारा काम करना चाहती है तो तुम समझते हो कि यह सुस्पष्ट-निर्मित व्यक्तिगत "मैं" ही है जो सब कुछ करता है — यदि वह अपनेको उस सीमित क्रिया-व्यापारसे मुक्त करना आरंभ करती है तो तुम अपने "मैं" पनके बोधको विस्तारित करना आरंभ करते हो और अंतमें जाकर वह अनंततामें विस्फोटित हो जाता है और अब तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता अथवा तुम उसे झाड़ फेंकते हो तथा आध्यात्मिक विशालतामें पुष्पित हो उठते हो। निस्संदेह, यह वह चीज नहीं है जिसे आधुनिक जड़-वैज्ञानिक विचारधारामें चेतना कहा गया है, क्योंकि वह विचारधारा विज्ञानके द्वारा परिचालित होती है और चेतनाको केवल इस रूपमें

देखती है कि वह एक क्रिया-व्यापार है जो निश्चेतन जड़तत्त्वमेंसे प्रकट होता है और बाह्य वस्तुओंके प्रति अंग-प्रत्यंगोंकी किन्हीं प्रतिक्रियाओंसे निर्मित है। पर वह चेतनाका एक कार्य-व्यापार है, वह स्वयं चेतना नहीं है, और यहांतक कि वह चेतनाके संभवनीय कार्य-व्यापारका एक बहुत छोटा-सा अंश है और वह उस सद्वस्तु रूप चेतनाको समझनेकी चाभी नहीं दे सकता जो कि सत्ताका सार-तत्त्व है।

बस, अभी इतना ही पर्याप्त है। इसी भावमें तुम्हें अपनेको स्थापित करना होगा — क्योंकि यह मौलिक बात है — उसके बाद ही और आगे बढ़ना उपयोगी हो सकेगा।

२

सच्चिदानंद त्रिविध भावसे युक्त 'एक' है। परात्परमें तीनों भाव तीन नहीं बल्कि एक हैं — सत् है चित्, चित् है आनंद, और इस तरह वे पृथक् नहीं किये जा सकते, और केवल यही नहीं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते बल्कि उनमेंसे एक इतना अधिक दूसरा है कि वे बिलकुल ही स्पष्ट रूपमें पृथक् नहीं दिखायी देते। अभिव्यक्तिके उच्चतर लोकोंमें वे त्रैत बन जाते हैं — यद्यपि अविभेद्य होते हैं, पर कोई एक अधिक प्रधान और आधार बनाया जा सकता है या दूसरोंका नेतृत्व कर सकता है। नीचे निम्नतर लोकोंमें वे देखनेमें विभेद्य बन जाते हैं, यद्यपि अपने गुह्य सत्यस्वरूपमें वैसे नहीं रहते, और उनमेंसे एक बाह्य-क्रिया-रूपमें दूसरेके बिना रह सकता है जिसमें कि हम उस चीजके विषय-में सज्ञान हो सकें जो हमें निश्चेतन या दुःखमय अस्तित्व या आनंद-रहित चेतना प्रतीत होती है। निःसंदेह, अनुभवमें आनेवाले इनके बीचके इस पार्थक्यके बिना दुःख-दर्द, अज्ञान, मिथ्यात्व, मृत्यु तथा जिसे हम निश्चेतना कहते हैं वह — ये सब चीजें अभिव्यक्त नहीं हुई होतीं — जड़तत्त्वकी विश्वव्यापी निश्चेतनाके भीतरसे एक सीमित और दुःखमय चेतनाका यह क्रमविकास संभव ही न हुआ होता।

*

अतिमानस सच्चिदानंद और निम्नतर सृष्टिके बीचमें है। एक-मात्र इसीके अंदर भागवत चैतन्यका आत्म-निर्धारक सत्य विद्यमान है और यह सत्य-सृष्टिके लिये आवश्यक है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य मन, प्राण और शरीरके संबंधसे भी सच्चिदानंदका साक्षात्कार पा सकता है — पर तब वह एक

ऐसी चीज होगा जो स्थायी है, अपनी उपस्थितिसे निम्न प्रकृतिको धारण करती है, पर उसे रूपांतरित नहीं करती। एकमात्र अति-मानस ही निम्नतर प्रकृतिको रूपांतरित कर सकता है।

*

अतिमानसिक शक्ति ही मन, प्राण और शरीरको रूपांतरित करती है—सच्चिदानंद चेतना नहीं जो निष्पक्षभावसे प्रत्येक वस्तुको धारण करती है। परंतु सच्चिदानंदका, विशुद्ध सत्-चित्-आनंदका अनुभव प्राप्त होनेपर ही अतिमानसिक चेतनामें आरोहण और अतिमानसिक चेतनाका अवरोहण (बहुत बादकी स्थितिमें) संभव होता है। अतिमानसिक चेतनामें आरोहण करनेके लिये मनुष्यको मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रचनाओंद्वारा उत्पन्न साधारण सीमा-बंधनसे मुक्त होना चाहिये और सच्चिदानंदकी शांति, स्थिरता, पवि-त्रता और विशालताकी अनुभूति यह मुक्ति प्रदान करती है।

शून्यमें जानेके साथ अतिमानसका कोई संबंध नहीं। जब मन अपनी सीमाओंको पार कर जाता है और इसके लिये निषेधात्मक और निवृत्तिप्रधान मार्गका अनुसरण करता है तो वह महाशून्यमें पहुंच जाता है। 'अज्ञान' होनेके कारण मनको परम सत्यमें प्रवेश करनेके लिये अपने-आपको मिटा देना पड़ता है — अथवा, कम-से-कम, मन ऐसा ही समझता है। परंतु अतिमानसको स्वयं सत्य-चेतना और भागवत ज्ञान होनेके कारण इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने-आपको मिटानेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

*

अतिमानसिक चेतनामें कोई समस्या नहीं होती — समस्याकी सृष्टि मनद्वारा सृष्ट विभाजनसे होती है। अतिमानस सत्यको देखता है एकमेव पूर्ण वस्तुके रूपमें और प्रत्येक चीज उस पूर्ण वस्तुके भीतर अपने निजी स्थानमें बैठ जाती है। अतिमानसिक

आध्यात्मिक भी है, पर पुराने योग अध्यात्मभावापन्न मनके द्वारा सच्चिदानंदको प्राप्त करते हैं और सच्चिदानंदके शाश्वततः स्थाणु एकत्वमें चले जाते हैं अथवा विशुद्ध सत्, अखंड और शाश्वत सत् अथवा विशुद्ध, अखंड और शाश्वत असत्में पहुंच जाते हैं। हमारा योग आध्यात्मिक मानसलोकमें सच्चिदानंदकी उपलब्धि करके अति-मानसिक लोकमें भी उसे प्राप्त करनेके लिये आगे बढ़ जाता है।

परात्पर विश्वातीत सच्चिदानंद सबसे ऊपर है। अतिमानसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि वह सच्चिदानंदकी आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है, अवश्य ही विश्व-ज्ञान सच्चिदानंदको स्वयं अपने अंदर प्राप्त होता है, अपनेसे बाहर नहीं। इसलिये सचेतन रूपसे परात्पर सच्चिदानंदमें निवास करने-के लिये मनुष्यको अतिमानसके भीतरसे गुजरना पड़ता है। यदि मनुष्य अभिव्यक्तिसे पृथक् विश्वातीत चेतनामें हो तो वहां समस्या या समाधानके लिये कोई स्थान नहीं होता। यदि कोई परात्परतामें निवास करे और साथ ही विश्वका अवलोकन भी करना चाहे तो वह ऐसा केवल तभी कर सकता है जब कि वह परात्पर सच्चिदानंद चेतनामें विद्यमान अतिमानसिक चेतनामें निवास करे — अतएव प्रश्न क्यों उठना चाहिये? तब भला विश्वसंबंधी परात्पर सच्चिदानंदके विवरण और अतिमानसके विवरणमें भेद क्यों होना चाहिये? तुम्हारी कठिनाई शायद इस कारण उत्पन्न होती है कि तुम मनकी भाषामें इन दोनोंकी कल्पना करते हो।

अतिमानस केवल अध्यात्मभावापन्नसे ही नहीं, बल्कि इसके और अतिमानस-लोकके मध्य अवस्थित इसके ऊपरके लोकोंसे भी पूर्णतः भिन्न चेतना है। एक बार जब कोई अधिमानससे परे अतिमानसमें चला जाता है तो वह एक ऐसी चेतनामें प्रवेश कर जाता है जिसमें अन्य लोकोंके मानदंड लागू नहीं होते और जिसमें वही सत्य अर्थात् सच्चिदानंद तथा इस विश्वका सत्य एकदम अलग रूपमें दिखायी

देता है और उसका एक अलग ही क्रियात्मक परिणाम होता है। यह परिणाम आवश्यक रूपसे इस तथ्यसे उत्पन्न होता है कि अतिमानसमें एक अविभाज्य ज्ञान है, जब कि अधिमानस विभाजनमें प्राप्त एकत्वके द्वारा अग्रसर होता है और मन विभाजनको ही प्रथम सत्य मानकर विभाजनके द्वारा आगे बढ़ता है, क्योंकि वही उसके ज्ञानकी स्वाभाविक प्रक्रिया है।

सभी लोकोंमें सच्चिदानंदका, शुद्ध सत्, चित्, आनंदका मूल अनुभव एक-जैसा ही होता है और मन बहुधा उसीको एकमात्र सत्य मानकर संतुष्ट हो जाता है और अन्य सभी चीजोंको विराट् माया-का अंग कहकर रद्द कर देता है, परंतु भगवान्‌का या विश्व-सृष्टिका (जैसे, एक और बहु, व्यक्तिक और निर्व्यक्तिक, अनंत और सांत आदि-आदि) एक क्रियात्मक अनुभव भी है जो पूर्ण ज्ञानके लिये अत्यावश्यक है। क्रियात्मक अनुभव उच्चतर लोकोंकी तरह, मध्यवर्ती आध्यात्मिक स्तरों और अतिमानसिक लोककी तरह निम्नतर लोकोंमें एक जैसा नहीं होता। इन लोकोंमें विरोधोंको बस एक साथ रख दिया जा सकता और सुसमन्वित कर दिया जा सकता है, पर अतिमानसमें वे एक साथ घुलमिल जाते हैं और अविभेद्य रूपसे एक बन जाते हैं; इससे एक बहुत बड़ा अंतर आ जाता है।

विश्व सक्रियता, गतिशीलता है — सच्चिदानंदका मूल अनुभव सक्रियता और गतिशीलतासे भिन्न अचलता, स्थाणुत्व है। सच्चिदानंद और विश्वका पूरा सक्रिय सत्य और उसका परिणाम अतिमानसकी अपेक्षा अन्य किसी चेतनाकी पकड़में नहीं आ सकता, क्योंकि अन्य सभी (निम्नतर) लोकोंमें (ज्ञानका) साधन निम्नकोटिका है और इसलिये वहां स्थाणुत्वकी अनुभूतिकी परिपूर्णता और सक्रिय शक्ति, ज्ञान, निम्नतर ज्योतिके परिणाम तथा अन्य लोकोंकी शक्तिकी अपूर्णताके मध्य एक भेद है। यही कारण है कि दूसरे आध्यात्मिक लोकोंकी चेतना, यदि वह अवतरित भी हो, पार्थिव चेतनामें कोई

मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकती, वह महज उसे थोड़ा संशोधित कर सकती तथा समृद्ध बना सकती है। मौलिक रूपांतर ले आनेके लिये अतिमानसिक शक्ति और प्रकृतिके अवतरणकी आवश्यकता होती है।

सच्चिदानंदकी दो श्रेणियोंकी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि सच्चिदानंद सर्वदा एक ही चीज है — पर सच्चिदानंदका ज्ञान और विश्व अनुभव करनेवाली चेतनाकी मात्राके अनुसार बदलते रहते हैं।

भगवान्‌की साकार अनुभूति कभी-कभी आकारके साथ और कभी-कभी आकारके बिना भी हो सकती है। बिना आकार होनेपर, वह साक्षात् दिव्य पुरुषकी उपस्थिति होती है जो प्रत्येक वस्तुमें अनुभूत होती है। आकार होनेपर, वह एकमेवकी मूर्तिके साथ आती है जिसे पूजा अर्पित की जाती है। भगवान् सदा ही अपने भक्त या जिज्ञासुके सामने एक आकारमें प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य जिस आकारमें उनकी पूजा करता है या उन्हें खोजता है उस आकारमें उन्हें देखता है, अथवा उन भागवत व्यक्तिके उपयुक्त आकारमें देखता है जो पूजाके विषय होते हैं। आकार कैसे अभिव्यक्त होता है— यह निर्भर करता है बहुतसी चीजोंपर और ये इतने विभिन्न प्रकारकी हैं कि इनके लिये कोई एक ही नियम नहीं बताया जा सकता। कभी-कभी उस उपस्थितिको आकारके साथ हृदयमें देखा जाता है, कभी-कभी किसी अन्य चक्रमें, कभी-कभी उसे ऊपर देखा जाता है जहांसे वह मार्गदर्शन करती है, कभी-कभी बाहर और सामने दिखायी देती है मानो कोई मूर्तिमान् व्यक्ति हो। इसके लाभ ये हैं कि मनुष्य एक घनिष्ठ संबंध और सतत मार्गदर्शन अनुभव करता है अथवा, यदि वह भीतर अनुभूत हो या दिखायी दे तो, सतत उपस्थितिका एक बहुत प्रबल और ठोस अनुभव प्राप्त होता है। परंतु मनुष्यको अपनी पूजा और खोजकी पवित्रताके विषयमें बहुत असंदिग्ध होना चाहिये—

क्योंकि इस प्रकारके मूर्तिमान् संबंधकी असुविधा यह है कि दूसरी शक्तियां उस आकारका अनुकरण कर सकती हैं और वाणी और पथप्रदर्शनमें जालसाजी कर सकती हैं और यदि यह चीज किसी निर्मित मूर्तिके साथ, जो सच्ची चीज नहीं होती, संयुक्त हो जाय तो इसे और भी अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। बहुतसे लोग इस प्रकार पथभ्रष्ट हो चुके हैं, क्योंकि दंभ, मिथ्याहंकार या कामना उनमें प्रबल थी और उसने उनके सूक्ष्मतर चैत्य बोधको निगल लिया जो कि मानसिक नहीं होता और तुरत ऐसी पथभ्रष्टताओं या भूलों-के ऊपर श्रीमांकी ज्योति डाल सकता है।

*

१. 'विश्वातीत सद्वस्तुसे मेरा मतलब है परात्पर सच्चिदानंद जो इस अभिव्यक्ति और समस्त अभिव्यक्तियोंसे ऊपर है, इनमेंसे किसीसे भी बद्ध नहीं है, फिर भी जिससे सभी अभिव्यक्तियां अभिव्यक्त होतीं और समस्त विश्व उत्पन्न होते हैं।

२. 'अतिमानसिक' और 'विश्वातीत' एक ही चीज नहीं हैं। यदि ऐसी बात होती तो फिर कोई अतिमानसिक जगत् नहीं होता और न इस पार्थिव जगत्में अतिमानसिक तत्त्वका अवतरण ही होता–हमें फिर इस भावनापर वापस आ जाना होगा कि दिव्य सत्य और सद्वस्तु इस जगत्से परे ही हो सकते हैं और यह विश्व — कोई भी विश्व — केवल अर्द्ध-सत्यका या अज्ञानकी माया ही हो सकता है।

३. अतिमानसिकसे मेरा मतलब है सत्य-चेतना, चाहे वह विश्व-से अतीत हो या विश्वमें हो, जिससे भगवान् केवल अपने ही मूल तत्त्व और सत्ताको नहीं जानते बल्कि अपनी अभिव्यक्तिको भी जानते हैं। उसकी प्रमुख विशेषता है तादात्म्यके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, उसके द्वारा आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, भगवान् सच्चिदानंदका ज्ञान प्राप्त होता है, परंतु अभिव्यक्तिका भी ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि यह भी 'वही' (तत्) है — सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वासुदेवः सर्वम्।

मन अज्ञानका यंत्र है और जाननेका प्रयास करता है — अतिमानस ज्ञाता है, ज्ञानको अधिकृत करता है, क्योंकि वह अपने तथा ज्ञात वस्तुके साथ एक है, इसलिये वह अपने निजी सत्यके प्रकाशमें तथा ज्ञात वस्तुओंके आत्मस्वरूपके प्रकाशमें जो कि वह स्वयं है, सभी वस्तुओंको देखता है। वह एक क्रियात्मिका शक्ति है न कि केवल स्थाणु शक्ति, केवल एक ज्ञान ही नहीं है बल्कि ज्ञानानुकूल एक संकल्पशक्ति भी है — एक अतिमानसिक शक्ति है जो सीधे ज्योति और शक्तिके अपने जगत्को अभिव्यक्त कर सकती है जिसमें समस्त वस्तुएं एकमेवके सामंजस्य और एकत्वपर ज्योतित रूपमें स्थापित हो सकती हैं और अज्ञानके किसी पर्दे या किसी छद्मवेशसे बाधाप्राप्त नहीं हो सकतीं। अतएव अतिमानस समस्त संभव अभिव्यक्तिको अतिक्रांत नहीं करता, बल्कि यह मन, प्राण और जड़तत्त्वके त्रिविध जगत्से, जिस रूपमें हम इस अभिव्यक्तिको वर्तमान समयमें अनुभव करते हैं उससे ऊपर है।

४. अधिमानस एक प्रकारका अतिमानसका प्रतिनिधि है (यह एक प्रकारका केवल रूपक है), जो वर्तमान विकसनशील विश्वको, जिसमें कि हम यहां जड़-जगत्के अंदर रहते हैं, धारण करता है। यदि बिलकुल आरंभसे एक प्रत्यक्ष सृजनात्मिका शक्तिके रूपमें अति-मानस यहां आरंभ करता तो जिस प्रकारका जगत् हम अभी देखते हैं उसका होना असंभव होता; तब यह जगत् आरंभसे ही ज्योतिसे परिपूर्ण होता, जड़-तत्त्वकी निश्चेतनामें चेतनाका क्रमनिवर्तन नहीं हुआ होता और इसलिये जड़तत्त्वमेंसे चेतनाका क्रमशः संघर्षशील क्रमविकास भी नहीं हुआ होता। अतएव चेतनाके विश्वके उच्चतर अर्ध-भाग, परार्ध, तथा निम्नतर अर्ध-भाग, अपरार्ध, के बीच एक रेखा खींच दी गयी है। परार्धका निर्माण सत्, चित्, आनंद और महस् (अतिमानस) से हुआ है — अपरार्धका मन, प्राण और जड़-तत्त्वसे हुआ है। यह बीचकी रेखा मध्यवर्ती अधिमानस है जो,

स्वयं ज्योतिर्मय होनेपर भी, पूर्ण, अखंड अतिमानसिक ज्योतिको हमसे दूर रखता है; वह स्वयं निश्चय ही अतिमानसपर निर्भर करता है पर इसे ग्रहण करते समय इसे पृथक्-पृथक् भावों, शक्तियों, सभी प्रकारके वहुत्वोंमें विभक्त, वितरित और भंग कर देता है। फिर चेतनामें और भी अधिक ह्रास या न्यूनता आनेपर, जैसे मनमें पहुंचनेपर, इस तरह निरीक्षण करना संभव हो जाता है कि उन भावों, शक्तियों, वहुत्वों आदिमेंसे प्रत्येक एकमात्र या प्रमुख सत्य है और वाकी सव गौण या उसके विरोधी सत्य हैं। अधिमानसकी इस क्रियाके लिये उपनिषद्का यह वाक्य प्रयुक्त हो सकता है कि "सत्यका मुंह एक सुनहले ढक्कनसे छिपा हुआ है — **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं**, अथवा वेदका यह वचन प्रयुक्त हो सकता है— **ऋतेन ऋतम् अपिहितम्**। यहां एक प्रकारकी विद्या-अविद्यामयी मायाकी क्रिया है जो अविद्याका प्रमुख होना संभव वनाता है। इसी आदि विभेदात्मक तत्त्वके कारण मन निर्व्यक्तिकको परम सत्यके रूपमें देखने लगता है और सव्यक्तिकको महज एक छद्मरूप समझता है, अथवा, साकार भगवान्‌को उच्चतम सत्य मानने लगता है और निराकारत्वको महज एक भाव मानता है। फिर इसी कारण सब प्रकारके परस्पर-विरोधी दर्शन और धर्म उत्पन्न होते हैं; उनमेंसे प्रत्येक मानव-मनके सम्मुख उपस्थित सत्यके किसी एक पक्ष या प्रच्छन्न शक्तिको वस्तुओंका पूरा और पर्याप्त वर्णन मानता है अथवा, भगवान्‌की किसी एक देवशक्तिको अन्य सवसे ऊपर सच्चा ईश्वर मानता है जिसके समान ऊंचा या जिससे अधिक ऊंचा दूसरा कोई अथवा कोई भी नहीं हो सकता। यह विभेदात्मक तत्त्व मनुष्यके मानसिक ज्ञानका सर्वत्र पीछा करता है और जव वह सोचता है कि वह अंतिम एकत्वपर पहुंच गया है तव भी वह उसका एक गढ़ा हुआ एकत्व होता है, वह किसी एक ही पक्षपर आधारित होता है। बस, इसी तरह वैज्ञानिक भी वस्तुओंके किसी आदि भौतिक पक्षपर,

ऊर्जा या जड़तत्त्व, विद्युत् या आकाश-तत्त्वपर अपने ज्ञानका एकत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं, अथवा मायावादी यह समझता है कि वह जगत्-सत्ताको दो भागोंमें काटकर, उच्चतर पक्षको ब्रह्म और निम्नतर पक्षको माया नाम देकर, पूर्ण अद्वैतपर पहुंच गया है। यही कारण है कि मानसिक ज्ञान किसी वस्तुके अंतिम समाधानपर कभी नहीं पहुंच सकता, क्योंकि अधिमानसद्वारा विभक्त और वितरित सत्ताके असंख्य रूप और भाव हैं और मनुष्य चिरकाल दर्शनों और धर्मोंकी संख्या बढ़ाता जा सकता है।

स्वयं अधिमानसमें यह गड़बड़ी नहीं है, क्योंकि अधिमानस 'एक-मेव' को सभी वस्तुओंके अवलंब, मूलतत्त्व, मौलिक शक्तिके रूपमें जानता है, पर अपनी स्वभावगत क्रियात्मक क्रीड़ामें वह बहुत्वकी विभाजनकारी शक्तिपर बल प्रदान करता तथा प्रत्येक शक्ति या स्वरूपको अभिव्यक्त होनेका पूरा अवसर प्रदान करनेका प्रयत्न करता है, पर साथ ही किसी भी असामंजस्य या विरोधको रोकनेके लिये अंतर्निहित एकत्वपर निर्भर करता है। प्रत्येक देवता मानो अपना निजी जगत् उत्पन्न करता है, पर दूसरोंके साथ कोई संघर्ष नहीं करता; वस्तुओंका प्रत्येक पहलू, प्रत्येक भावना, प्रत्येक शक्ति अपनी पूरी पृथक् बल-पराक्रम या दीप्तिके साथ अनुभूत हो सकती है और अपने मूल्य-महत्त्वको क्रियान्वित कर सकती है, पर इससे कोई बेमेल-पन उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अधिमानसमें अनंतका ज्ञान है और यथार्थ (देश-कालगत नहीं) अनंततामें बहुतसी समस्वर अनंतताओंका होना संभव है। परंतु अधिमानसकी इस विशिष्ट संरक्षण-शक्तिको चेतनाके उन निम्नतर स्तरोंमें नहीं संचरित किया जा सकता जिन्हें अधिमानस धारण करता और नियमित करता है, क्योंकि जैसे-जैसे क्रमधारामें नीचे उतरा जाता है वैसे-वैसे विभाजन और बहुत्वपर जोर बढ़ता जाता है और मनमें आकर अंतर्निहित एकत्व अस्पष्ट, अव्यक्त, अनिर्दिष्ट और अनिर्देश्य बन जाता है और एकमात्र आपात-

दृश्य ठोसपन रह जाता है गोचर वस्तुओंका, जो अपने स्वरूपमें एक आकार और चित्रण होता है — एकमेवकी आत्मदृष्टि एकदम विलीन होने लग गयी है। मन चित्रण और रचनाओंके द्वारा, पृथकीकरण-द्वारा तथा अपनी निर्मित सामग्रियोंको एकत्र बुनकर कार्य करता है; वह एक सुसमंजस रचना कर सकता है और उसे 'पूर्ण' के रूपमें देख सकता है, पर जब वह वस्तुओंके सत्यकी खोज करता है तो वह अमूर्त्त भावनाओंकी शरण लेता है — उसे वह ठोस दर्शन, अनुभव, संपर्क प्राप्त नहीं होता जिसे रहस्यवादी और आध्यात्मिक साधक खोजते हैं। आत्मा और सद्वस्तुको प्रत्यक्ष रूपमें या यथार्थ रूपमें जाननेके लिये मनको निश्चल नीरव हो जाना और इन वस्तुओंकी थोड़ी ज्योतिको प्रतिबिंबित करना होता है अथवा अपनेको अतिक्रम कर जाना और रूपांतरित कर देना होता है, और यह महज संभव होता है या तो किसी उच्चतर ज्योतिके इसमें उतर आनेपर या इसके उसमें ऊपर उठ जानेपर, सत्ताकी किसी उच्चतर ज्योतिमें उसे उठा लेनेपर या उसके उसमें गर्क हो जानेपर। मनसे और नीचे उतरनेपर, जड़-तत्त्वमें हम भंजन और विभाजनकी चरम सीमापर पहुंच जाते हैं; एकमेव, यद्यपि गुप्त रूपसे वहां होता है, ज्ञानके लिये खो जाता है और हम अज्ञानकी पूर्णावस्थाको, यहांतक कि मौलिक निश्चेतनाको पाते हैं जिसमेंसे विश्वको चेतना और ज्ञानका विकास करना है।

५. यदि हम वैकुंठ या गोलोक प्रत्येकको भगवान्‌का, विष्णु या कृष्णका लोक मानें तो हममें स्वभावतः ही अधिमानस-लोकमें उसका स्थान या मूल खोजनेकी प्रवृत्ति होगी। अधिमानस देवताओंके उच्च-तम लोकोंका स्तर है। परंतु वैकुंठ और गोलोक मनुष्योंद्वारा कल्पित सत्ताकी वे स्थितियां हैं जो मानवताके परे हैं। गोलोक स्पष्ट ही आध्यात्मिक ज्योतियोंसे पूर्ण (गाय आध्यात्मिक ज्योतिकी प्रतीक है) प्रेम, सौंदर्य और आनंदका एक धाम है जिसके रक्षक और धारणकर्त्ता मानव जीव — गोप और गोपियां — होते हैं। इस अभिव्यक्तिके

लिये कोई एक स्थान निश्चित करना आवश्यक नहीं है। सच पूछा जाय तो इसका या इसकी अवस्थाओंका प्रतिफलन या प्राप्ति चेतनाके किसी भी स्तरपर — मानसिक, प्राणिक या यहांतक कि सूक्ष्म-भौतिक स्तरपर — हो सकती है। इसलिये इसकी जो व्याख्या तुमने लिखी है वह असंभव नहीं है बल्कि बिलकुल युक्तिसंगत है।

६. निर्वाणको एक लोक या स्तरके रूपमें स्थापित करना संभव नहीं, क्योंकि निर्वाणका दबाव तो जगत् तथा जागतिक मूल्योंसे पृथक् हट जानेके लिये होता है; इसलिये यह चेतनाकी या यों कहें कि अतिचेतनाकी एक स्थिति है जिसका कोई स्थान या स्तर नहीं है। फिर एकसे कहीं अधिक प्रकारके निर्वाण (विलोप या लय) का होना भी संभव है। मनुष्य शरीरस्थ मनोमय पुरुष होनेके कारण अध्यात्म-भावापन्न मनके द्वारा विश्वसे अलग होनेका यह प्रयास करता है, वह अन्यथा कर भी नहीं सकता और यही प्रयास उसे लय या निर्वाणका आभास देता है; क्योंकि मन तथा उसपर निर्भर सभी वस्तुओंका, जिनमें पृथकात्मक अहं भी शामिल है, किसी परेकी दिव्य वस्तुमें लय हो जाना ऐसे पृथक् हट जानेका स्वाभाविक, लगभग अनिवार्य पथ है। जो योग इससे अधिक भावात्मक है और परात्परताको खोजता है पर विश्वसे पृथक् नहीं होना चाहता उसके लिये ऐसा होना अनि-वार्य नहीं है, क्योंकि उसमें मनोमय पुरुषके आत्म-अतिक्रमण या रूपां-तरके पथका निर्देश पहलेसे ही विद्यमान रहेगा। परंतु यह भी संभव है कि मनुष्य निर्वाणकी किसी विशेष अनुभूतिके द्वारा, मनकी किसी पूर्ण निश्चल-नीरवता तथा कार्यों, रचनाओं, चित्रणोंकी निवृत्तिके द्वारा भी वहां पहुंच जाय और यह सब इतना पूर्ण हो सकता है कि न केवल नीरव मनको बल्कि निष्क्रिय इन्द्रियोंको भी समूचा संसार अपने ठोसपन और सत्यतासे खाली प्रतीत हो सकता है और सभी वस्तुएं ऐसी प्रतीत हो सकती हैं कि वे केवल सारहीन आकार हों और उनमें कोई सच्चा निवास न हो अथवा वे किसी ऐसी 'वस्तु'

में तैर रही हों जो नामरहित अनंत है : यह अनंत ही अथवा उससे भी परे की कोई वस्तु वह 'तत्' है जो एकमात्र सत्य है; कोई पूर्ण अचंचलता, शांति, मुक्ति ही अंतिम स्थिति हो सकती है। कर्म जारी रह सकता है, पर नीरव मुक्त चेतना न तो उसे प्रारंभ करेगी और न उसमें भाग लेगी; एक नामरहित शक्ति तबतक सब कुछ करती रहेगी जबतक कि ऊपरसे अवतरण होना आरंभ नहीं हो जाता जो चेतनाको रूपांतरित कर देगा, अपनी नीरवता और मुक्तिको एक ज्योतिर्मय ज्ञान, कर्म और आनंदका आधार बना देगा। पर इस प्रकार बहुत कम ही होगा; सामान्यतया मनकी निश्चल-नीरवता, चेतनाकी मुक्ति तथा मनके अपूर्ण चित्रणों या रचनाओंके अंतिम मूल्य या सत्यमें जो चेतनाका विश्वास है उसका परित्याग उच्चतर क्रियाके संभव होनेके लिये पर्याप्त होगा।

७. अब विश्व-चेतना और निर्वाणके विषयको लें। विश्व-चेतना एक जटिल वस्तु है। प्रथमतः, इसके दो पक्ष हैं, आत्माका अनुभव जो मुक्त, अनंत, नीरव, निष्क्रिय, सबमें एक और सबसे परे है तथा वैश्व शक्ति एवं उसकी क्रियाशक्तियों, क्रियाओं और रचनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव, यह अंतिम अनुभव तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक कि मनुष्यको यह बोध नहीं हो जाता कि वह विश्वके साथ समतुल्य बन गया है अथवा उसमें परिव्याप्त हो गया है, उसे अतिक्रम कर गया है और उसे धारण कर रहा है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक वैश्व शक्तियों, सत्ताओं और गतियोंके साथ प्रत्यक्ष संसर्ग, संपर्क और आदान-प्रदान तो हो सकता है पर वैश्व मनके साथ मनकी, वैश्व प्राणके साथ प्राणकी और वैश्व भौतिक शक्ति और उसके उपादानके साथ शरीर और शारीर चेतनाकी पूर्ण एकता नहीं प्राप्त हो सकती। फिर विश्वव्यापी आत्माकी उपलब्धि हो सकती है पर उसके फलस्वरूप विश्वके साथ सक्रिय एकत्व नहीं भी प्राप्त हो सकता। अथवा, इसके विपरीत, सर्वत्र सर्वव्यापी मुक्त स्थाणु आत्माकी उप-

लब्धि हुए बिना चेतनाको एक प्रकारकी सक्रिय विश्वव्यापकताका अनुभव हो सकता है,—और इस तरह जिन महत्तर ऊर्जाओंका अनुभव मनुष्यको होगा उनमें संलग्न हो जाने और उनका सुख उपभोग करनेके कारण मुक्तिका मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। फिर विश्वके साथ तादात्म्य या विश्वभावापन्न होनेका अनुभव एक स्तर या लोकमें अन्य स्तर या लोककी अपेक्षा अधिक, प्रमुखतया मानसिक अथवा प्रमुखतया भावात्मक (विश्वव्यापी सहानुभूति या प्रेमके द्वारा) अथवा अन्य प्रकारके प्राणिक (विश्वव्यापी प्राण-शक्तियोंकी अनुभूति) अथवा भौतिक लोक या स्तरमें, हो सकता है। पर, चाहे जहां भी हो, पूर्ण रूपमें अनुभव और उपलब्धि प्राप्त होनेपर भी, यह स्पष्ट रहना चाहिये कि यह वैश्व क्रीड़ा कुछ ऐसी ही चीज होगी जिसे अंतमें मनुष्य उसके अपने स्वभावसे ही सीमित, अज्ञानमय और अपूर्ण अनुभव करेगा। मुक्त आत्मा इससे अस्पृष्ट रहता हुआ तथा इसकी अपूर्णताओं एवं उलटफेरोंसे अविचलित रहकर इसे देख सकता, किसी निर्धारित कार्यको कर सकता, सबको सहायता देनेकी चेष्टा कर सकता अथवा भगवान्‌का यंत्र बन सकता है, पर न तो वह कर्म और न उसका यंत्र बनना ही पूर्णत्व जैसी या यहांतक कि भगवान्‌की पूर्ण ज्योति, शक्ति और आनंद-जैसी कोई चीज हो सकता है। इसे केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि मनुष्य वैश्व सत्ताके उच्चतर लोकोंमें आरोहण कर जाय या उन लोकोंसे मानव-चेतनामें अवतरण हो— और, यदि इस बातकी परिकल्पना न की जाय या इसे स्वीकार न किया जाय तो निर्वाणकी ओर जानेका प्रवेग जगत्‌से दूर भागनेका एक पथ ही बना रहेगा। दूसरा पथ होगा मृत्युके बाद इन उच्चतर लोकोंमें आरोहण — विभिन्न धर्मोंके स्वर्गोंका इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं कि वे एक महत्तर, ज्योतिर्मय, आनंदमय दिव्य जीवनकी ओर जानेका ऐसा ही एक प्रवेग हैं।....

...प्राचीन भारतीय परंपरामें केवल एक ही त्रैत परात्पर तत्त्व है और वह है सच्चिदानंद। अथवा, तुम यदि उच्चतर गोलार्ध-को परात्पर तत्त्व कहो तो वहां तीन लोक हैं : सत्-लोक, चित्-लोक और आनंद-लोक। अतिमानसको वहां चौथे लोकके रूपमें जोड़ा जा सकता है, क्योंकि यह अन्य तीनोंसे निकलता है और उच्चतर गोलार्ध-से संबंध रखता है। भारतीय परंपराने दो बिलकुल भिन्न शक्तियों और चेतनाके स्तरोंके बीच कोई भेद नहीं किया, एक तो वह है जिसे हम अधिमानस कहते हैं और दूसरा वह है जो यथार्थ अतिमानस या दिव्य विज्ञान है। और यही कारण है कि वे माया (अधिमानस-शक्ति या विद्या-अविद्या) के विषयमें विभ्रांत हो गये, और उसे ही उन्होंने चरम सृजनात्मिका शक्ति मान लिया। इस तरह अर्ध-प्रकाशमें ही आकर ठहर जानेके कारण उन्होंने रूपांतरका रहस्य खो दिया —– यद्यपि वैष्णव और तांत्रिक योगोंने उसे फिर-से पानेकी अंधवत् चेष्टा की और कभी-कभी वे सफलताकी सीमा-पर भी पहुंच गये थे। बाकीके लिये, मैं समझता हूं कि यही बात सक्रिय दिव्य सत्यकी खोज करनेके प्रयासमें सबसे बड़ी बाधा रही है; मैं ऐसे किसीको नहीं जानता जिसने अधिमानस-ज्योतिके अवतरित होते ही ऐसा न अनुभव किया हो कि बस यही सत्य-प्रकाश, विज्ञान-चेतना है और इसके फलस्वरूप या तो वे वहीं बीचमें रुक गये और आगे न जा सके अथवा उन्होंने यह सिद्धांत बना लिया कि यह भी महज माया या लीला है और एकमात्र करणीय कार्य है इससे परे परात्परकी किसी अचल-अटल तथा निष्क्रिय निश्चल-नीरवतामें चला जाना।

संभवतः परात्पर तत्त्वोंसे मतलब वर्तमान अभिव्यक्तिके तीन मौलिक तत्त्व भी हो सकता है। भारतीय पद्धतिमें ये हैं ईश्वर, शक्ति और जीव, अथवा सच्चिदानंद, माया और जीव। परंतु हमारी पद्धतिमें, जो कि वर्तमान अभिव्यक्तिसे परे जानेका प्रयास

करती है, इन्हें अच्छी तरह स्वीकार किया जा सकता है, और चेतनाके स्तरोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो तीन उच्चतम — आनंद (जिसपर सत् और चित् आधारित हैं), अतिमानस और अधिमानसको तीन परात्पर तत्त्व या लोक कहा जा सकता है। अधिमानस निम्नतर गोलार्धकी चोटीपर अवस्थित है, और यदि तुम अतिमानसतक जाना चाहो तो तुम्हें अधिमानससे होकर और उसके परे जाना होगा। अतिमानससे और भी ऊपर और उसके परे हैं सच्चिदानंदके लोक।

तुम अधिमानससे नीचे एक खाईकी बात कहते हो। परंतु क्या वहां कोई खाई है — अथवा मानवीय अचेतनताके सिवा और कोई खाई है? चेतनाके लोकों या स्तरोंकी संपूर्ण श्रेणीमें कहीं कोई सच्ची खाई नहीं है, सर्वत्र ही संयोजक स्तर मिलते हैं और तुम एक-एक पग ऊपर आरोहण कर सकते हो। अधिमानस और मानव-मन-के बीच कितने ही अधिकाधिक ज्योतिर्मय स्तर हैं; परंतु, चूंकि ये मानव-मनके लिये अतिचेतन हैं (निम्नतम स्तरोंमेंसे एक या दोको छोड़कर जिनका कि वह कुछ सीधा स्पर्श प्राप्त करता है), यह उन्हें श्रेष्ठतर निश्चेतना माननेकी प्रवृत्ति रखता है। अतएव एक उप-निषद् ईश्वर-चेतनाको 'सुषुप्ति' कहती है, क्योंकि सामान्यतया मनुष्य तबतक केवल समाधिमें ही उस चेतनामें प्रवेश करता है जबतक कि वह अपनी जागृत चेतनाको किसी उच्चतर स्थितिकी ओर मोड़ देनेका प्रयास नहीं करता।

सच पूछा जाय तो सत्ता और उसके अंगोंकी व्यवस्थामें दो धाराएं साथ-साथ कार्य कर रही हैं। एक तो है समकेंद्रिक धारा, चक्रों अथवा कोषोंकी एक परंपरा जिसके केंद्रमें है चैत्य पुरुष; दूसरी है लंबरूप, आरोहण और अवरोहणकी धारा, सीढ़ियोंकी एक पंक्तिकी जैसी, एकके ऊपर एक स्थापित लोकोंकी एक श्रेणी जिसके अंदर मानवसे परे भगवान्में संक्रमण करनेके मार्गके महत्त्वपूर्ण केंद्र

हैं अतिमानस-अधिमानस। इस संक्रमणका, यदि इसे साथ-ही-साथ एक रूपांतर भी होना हो तो, केवल एक ही पथ है, एक ही मार्ग है। सर्वप्रथम, एक अंतर्मुखी परिवर्तन होना चाहिये, अंतरतम चैत्य पुरुषको ढूंढ़ निकालनेके लिये और उसे सामनेकी ओर ले आनेके लिये अंतस्में पैठना चाहिये और साथ-ही-साथ प्रकृतिके आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर भौतिक अंशको उद्घाटित करना चाहिये। उसके बाद, एक प्रकारका आरोहण होना चाहिये, ऊपरकी ओर क्रमशः परिवर्तन होने चाहियें और फिर निम्नतर अंगोंको परिवर्तित करनेके लिये नीचेकी ओर मुड़ना चाहिये। जब मनुष्य अंतर्मुखी परिवर्तन साधित कर लेता है तो वह समूची निम्न प्रकृतिको चैत्यभावापन्न बनाता है जिसमें कि वह दिव्य रूपांतरके लिये तैयार हो जाय। ऊपरकी ओर जानेपर मनुष्य मानव-मनके परे चला जाता है और आरोहणकी प्रत्येक अवस्थामें एक नयी चेतनामें परिवर्तन होता है तथा यह नयी चेतना सारी प्रकृतिमें व्याप्त हो जाती है। इस तरह बुद्धिके परे ऊपर उठकर आलोकित उच्चतर मनमेंसे पार होते हुए हम संबोधि-चेतनामें चले जाते हैं और प्रत्येक वस्तुकी ओर बौद्धिक क्षेत्रसे नहीं अथवा यह यंत्रकी तरह बुद्धिके भीतरसे नहीं, बल्कि एक महत्तर संबोधिकी ऊंचाईसे तथा संबुद्ध संकल्प, भावना, भावावेग, संवेदन तथा भौतिक संपर्कके भीतरसे ताकना आरंभ करते हैं। इसी तरह, संबोधिसे आगे महत्तर अधिमानसिक ऊंचाईपर जानेपर एक नया परिवर्तन होता है और हम अधिमानस-चेतनासे तथा अधिमानसिक विचार, दृष्टि, संकल्प, भावना, संवेदन, शक्तिकी क्रिया तथा संकल्पसे ओतप्रोत मन, हृदय, प्राण और शरीरके माध्यमसे प्रत्येक वस्तुको देखते और अनुभव करते हैं। परंतु अंतिम परिवर्तन है अतिमानसिक, क्योंकि एक बार जब हम वहां पहुंच जाते हैं — एक बार यदि प्रकृति अतिमानसभावापन्न हो जाती है, तो हम अज्ञानके परे चले जाते हैं, उसके बाद चेतनाके परिवर्तनकी कोई

आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि उससे आगे दिव्य प्रगति होती है, यहां-तक कि अनंत विकासकी संभावना अभी रहती है।

*

तुम्हें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि निम्नतर लोकोंमें उच्चतर लोकोंका प्रतिबिंब पड़ता है और उसे क्रमविकासकी उस स्थितिमें परात्पर तत्त्वके रूपमें आसानीसे अनुभव किया जा सकता है। परंतु परात्पर सच्चिदानंद अपने-आपमें एक जगत् नहीं है, वह विश्वातीत है। इस विश्वसे संबंधित क्रमपरंपरामें सबसे उच्च जगत् सत् या सत्य-लोक है।

*

वही मूल तपोलोक है जिसमें चित्-तत्त्व है और उसकी शक्ति तपस् है, पर तपस्के और भी जगत् हैं जो नीचेके लोकोंमें हैं। एक तो मनोमय लोकमें है, दूसरा प्राणलोकमें। इन्हीं तपस्-लोकोंमेंसे कोई एक लोक होगा जहांसे वे सत्ताएं आयी होंगी जिन्हें तुमने देखा था।

*

जिस भौतिक विश्वको हम देखते हैं उससे ऊपर एक प्राण-लोक (स्वयं-स्थित) है; फिर प्राणिक और स्थूल जगत्के ऊपर एक मनोमय लोक (स्वयं-स्थित) है। ये तीनों — मनोमय, प्राणमय और भौतिक — जगत् एक साथ मिलकर निम्न गोलार्द्धके त्रिविध विश्व कहलाते हैं। क्रमविकासके द्वारा ये पृथ्वी-चेतनामें स्थापित हुए हैं — पर क्रमविकाससे पहलेसे ही, पृथ्वी-चेतनासे तथा जड़जगत्से ऊपर जहां पृथ्वी है, ये अपने-आपमें विद्यमान हैं।

*

अगर हम जगतों या स्तरोंकी संपूर्ण परंपराको एक साथ देखें तो हमें वे एक महान् संबद्ध जटिल क्रियाके रूपमें दिखायी देंगे। उच्चतर लोक निम्नतर लोकोंपर अपना प्रभाव डालते हैं, निम्नतर

उच्चतरके प्रति प्रतिक्रिया करते हैं तथा अपने अंदर अपने ही नियम-के अधीन किसी ऐसी वस्तुको विकसित या अभिव्यक्त करते हैं जो श्रेष्ठतर शक्ति और उसकी क्रियाके अनुरूप होती है।

भौतिक जगत्‌ने प्राण-जगत्‌का दबाव मानकर प्राणको विकसित किया है, मानसिक जगत्‌का दबाव मानकर मनका विकास किया है। यह अब अतिमानसिक जगत्‌के दबावको स्वीकार करके अतिमानसका विकास करनेका प्रयास कर रहा है। अधिक ब्योरेको दृष्टिमें रखें तो उच्चतर जगतोंकी विशेष-विशेष शक्तियां, गतियां, क्षमताएं और सत्ताएं ऐसे समुचित और अनुरूप आकारोंको स्थापित करनेके लिये निम्नतर जगतोंमें अपने-आपको फेंक सकती हैं जो उन्हें भौतिक जगत्‌के साथ युक्त कर देंगे तथा उनके कार्योंको मानो यहां उत्पन्न या प्रक्षिप्त कर देंगे। और यहां सृष्ट होनेवाली प्रत्येक वस्तुके, उसे सहारा देनेवाले स्वयं उसीके कई सूक्ष्म कोष या आकार होते हैं जो उसे बनते रहनेमें मदद करते हैं तथा उसे ऊपरसे कार्य करनेवाली शक्तियोंके साथ युक्त कर देते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्यके स्थूल भौतिक शरीरके अतिरिक्त और भी सूक्ष्मतर कोष या शरीर हैं जिनकी सहायतासे वह पर्देके पीछे चेतनाके अतिभौतिक लोकोंके साथ सीधा संबंध बनाये रखता है एवं उनकी शक्तियों, गतियों और सत्ता-ओंसे प्रभावित हो सकता है। जो कुछ भी प्राणमें घटित होता है उसके पीछे सर्वदा ही गुह्य प्राणलोककी क्रियाएं और आकृतियां विद्यमान रहती हैं। जो कुछ भी मनमें घटित होता है उससे पहले गुह्य मानसिक स्तरोंपर अनुरूप गतियां और आकार विद्यमान रहते हैं। वस्तुओंका यही रूप जैसे-जैसे हम एक सक्रिय योगमें प्रगति करते जाते हैं वैसे-वैसे हमारे सामने सुस्पष्ट होता, बार-बार सामने आता तथा महत्त्वपूर्ण बनता जाता है।

परंतु इन सब चीजोंको अत्यंत कठोर और यांत्रिक अर्थमें नहीं ग्रहण करना चाहिये। यह एक अत्यंत अधिक नमनीय क्रिया है और

संभावनाओंकी क्रीड़ासे भरी है। इस चीजको अपनी द्रष्टा चेतनाके अंदर एक लचकीली और सूक्ष्म चातुरी तथा विवेकबुद्धिके द्वारा पकड़ना चाहिये। इसे अति कठोर यौक्तिक या यांत्रिक सूत्रके अंदर नहीं बांधा जा सकता। दो या तीन बातोंपर जोर दिया जा सकता है जिसमें कि यह नमनीयता हमारी दृष्टिसे ओझल न हो जाय।

सर्वप्रथम, प्रत्येक लोक, उससे ऊपर और नीचेके लोकोंके साथ उसका संबंध होनेके बावजूद, अपने-आपमें एक पृथक् जगत् होता है, उसकी अपनी क्रियाएं, शक्तियां, सत्ताएं, नमूने, रूप होते हैं जो मानो उस लोकके और स्वयं अपने खातिर, उसके अपने नियमानुसार, महान् शृंखलाके अन्य लोकोंका आपाततः कोई ख्याल न रख स्वयं उसकी अभिव्यक्तिके लिये अस्तित्व रखते हैं। इस तरह, यदि हम प्राणमय या सूक्ष्म-भौतिक लोकको देखें तो हम उसके महान् क्षेत्रोंको (उनमेंसे अधिकांशको) अपने-आपमें विद्यमान देखेंगे, ऐसा लगेगा कि भौतिक जगत्के साथ उनका कोई संबंध नहीं और न उनमें कोई ऐसी क्रिया हो रही है जो भौतिक जगत्को अभिभूत या प्रभावित करती हो, उससे भी कम भौतिक नियमके अधीन कोई अपने अनुरूप अभिव्यक्ति करती हो। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि प्राणिक, सूक्ष्म-भौतिक या किसी भी अन्य लोकमें किसी वस्तुका अस्तित्व ही अभि-व्यक्तिकी अनुरूप गतियोंके होनेकी संभावना उत्पन्न करता है। परंतु उस निष्क्रिय या अंतर्निहित संभावनाको सक्रिय शक्मित्तामें परिवर्तित करनेके लिये अथवा स्थूल सृष्टि करनेके वास्तविक आवेगमें बदल देने-के लिये किसी और चीजकी आवश्यकता होती है। वह कोई चीज भौतिक जगत्से उठनेवाली कोई पुकार हो सकती है अर्थात् कोई शक्ति या कोई व्यक्ति भौतिक लोकमें होना चाहिये जो अतिभौतिक शक्ति या जगत् या उसके एक भागके साथ संपर्क प्राप्त करे और उसे पार्थिव जीवनमें उतार लानेके लिये प्रेरित हो। अथवा, स्वयं

प्राणलोक या अन्य लोकमें एक प्रवेश हो अर्थात् एक प्राणमय सत्ता अपना कार्य पृथ्वीकी ओर विस्तारित करनेके लिये और अपने लिये वहां एक राज्य स्थापित करनेके लिये अथवा अपने लोकमें वह जिन शक्तियोंका प्रतिनिधि हो उनकी क्रीड़ाकी व्यवस्था करनेके लिये प्रेरित हो। अथवा, यह ऊपरसे एक दबाव भी हो सकती है; उदाहरणार्थ, कोई अतिमानसिक या मानसिक शक्ति ऊपरसे अपनी रचना उत्पन्न कर रही हो और स्थूल जगत्में अपनी आत्मसृष्टिको संक्रमित करनेके माध्यमके रूपमें प्राण-स्तरपर आकारों और क्रियाओंको विकसित कर रही हो। अथवा, ऐसा भी हो सकता है कि यह सभी चीजें एक साथ कार्य करती हों और ऐसी हालतमें एक सफल सृष्टि होनेकी सबसे बड़ी संभावना उत्पन्न होती है।

द्वितीयतः, परिणामस्वरूप, उसके बाद ऐसा होता है कि प्राण-जगत् या किसी अन्य उच्चतर जगत्की क्रियाका एक सीमित अंश ही पार्थिव जीवनके साथ संबद्ध होता है। परंतु इससे भी बहुत सारी संभावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं जो, पृथ्वी जो कुछ एक समयमें अभिव्यक्त कर सकती है या अपने कम नमनीय नियमोंके अधीन धारण कर सकती है उस सबसे बहुत अधिक महान् होती हैं। ये सब संभावनाएं संसिद्ध नहीं होतीं; कुछ तो एकदम व्यर्थ हो जाती हैं और अधिक-से-अधिक एक ऐसी भावना छोड़ जाती हैं जिसका कुछ अर्थ नहीं होता; कुछ संभावनाएं गंभीरतापूर्वक प्रयास करती हैं और पीछे ढकेल दी जातीं तथा परास्त कर दी जाती हैं और, यदि कुछ समयके लिये कुछ करती भी हैं तो वह निरर्थक ही हो जाता है। दूसरी अपनी आधी अभिव्यक्ति कर पाती हैं, और यही अधिकांशमें सामान्य परिणाम होता है। इसका अधिकांश कारण यह होता है कि ये प्राणिक या अन्य अतिभौतिक शक्तियां संघर्षरत होती हैं और उन्हें केवल भौतिक चेतना और जड़तत्त्वके विरोधको ही नहीं बल्कि अपने पारस्परिक भयानक विरोधको भी जीतना होता है। कुछ

संभावनाएं अपने परिणाम उत्पन्न करनेमें और एक अधिक पूर्ण और सफल सृष्टि करनेमें सफलता प्राप्त करती हैं और यदि तुम इस सृष्टिकी तुलना उच्चतर लोकमें विद्यमान इसकी मूल सृष्टिसे करो तो वहां उनमें बड़ी घनिष्ठ एकरूपता दिखायी देगी अथवा यहांतक कि एक प्रकारकी आपाततः यथार्थ प्रतिकृति अथवा अतिभौतिकसे भौतिक नियमके अधीन रूपांतर प्रतीत होगी। और फिर भी वहां यथार्थता केवल वाह्यतः ही होगी; अभिव्यक्तिके दूसरे सत्तत्त्व और दूसरे छंदमें रूपांतर करनेकी बात ही विभेद उत्पन्न कर देती है। अब कोई दूसरी ही चीज होती है जो अभिव्यक्त होती है और यही बात सृष्टिको मूल्यवान् बना देती है। उदाहरणार्थ, भला पृथ्वीपर अतिमानसिक सृष्टि होनेकी क्या उपयोगिता होगी यदि वह ठीक वही चीज हो जो कि अधिमानस-लोकमें अतिमानसिक सृष्टि है? तत्त्वतः यह है वही चीज पर फिर भी कुछ और है, ऐसी स्थितियोंमें भगवान्‌का नवीन विजयपूर्ण आत्मानुसंधान है जो अन्यत्र नहीं है।

निस्संदेह, सूक्ष्म-भौतिक भौतिकके एकदम समीप है, और बहुत कुछ इसीके जैसा है। पर फिर भी उसकी अवस्थाएं भिन्न हैं और वस्तुएं अत्यधिक भिन्न हैं। जैसे, सूक्ष्म-भौतिक लोकमें एक स्वतंत्रता, नमनीयता, तीव्रता, शक्तिशालिता, रंग, तथा ऐसी चीजोंकी विस्तारित और बहुविध क्रीड़ा है जिनकी कोई भी संभावना अभी इस पृथ्वीपर नहीं है (वहां हजारों ऐसी चीजें हैं जो यहां नहीं हैं)। और फिर भी यहां कुछ है, भगवान्‌की एक ऐसी संभाव्यता है जो दूसरेमें, उसकी महत्तर स्वतंत्रताके बावजूद नहीं है; यहां एक ऐसी चीज है जो सृष्टिको अधिक कठिन बना देती है, पर अंतिम परिणाममें उस श्रमकी सार्थकताको सिद्ध करती है।

*

अधिकांश चीजें भौतिक स्तरमें घटित होनेसे पहले प्राणिक जगत्‌में घटित होती हैं, परंतु प्राण-जगत्‌में जो कुछ घटित होता है वह सब-

का-सब भौतिकमें नहीं संसिद्ध होता, अथवा उसी रूपमें नहीं होता। सर्वदा ही अथवा कम-से-कम साधारण तौरपर भौतिक स्तरकी भिन्न अवस्थाओंके कारण आकार, काल और परिस्थितियोंमें अंतर पड़ जाता है।

*

मोटे रूपमें तुमने जो कुछ देखा है वह ठीक है। अपने-आपमें प्रत्येक स्तर सत्य है पर अतिमानसके लिये केवल आंशिक सत्य है। जब ये उच्चतर सत्य भौतिक लोकमें आते हैं तो वे वहां अपनेको चरितार्थ करनेका प्रयत्न करते हैं, पर वे उसे आंशिक रूपमें और भौतिक स्तरकी अवस्थाओंके अधीन ही कर पाते हैं। एकमात्र अति-मानस ही इस कठिनाईको जीत सकता है।

*

स्वर्गीय जगत् शरीरसे ऊपर हैं। जिनके साथ शरीरके अंगोंका सादृश्य है वे हैं — सूक्ष्म-भौतिक, उच्चतर, मध्यवर्ती और निम्नतर प्राणिक और मानसिक जगत्। प्रत्येक स्तरका विभिन्न लोकोंके साथ, जो उससे संबंधित होते हैं, संपर्क बना रहता है।

*

यहां इन नामों (मांडूक्य उपनिषद्में आये हुए विश्व, तैजस और प्रज्ञा) का मतलब है बाह्य चेतना, आंतरिक चेतना और अतिचेतना। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति शब्दोंका प्रयोग इसलिये किया गया है कि मनुष्यकी सामान्य चेतनामें बाह्य ही केवल जागृत है, आंतरिक सत्ता अधिकांशमें अवचेतन है और केवल स्वप्नकी स्थितिमें ही सीधे कार्य करता है जब कि उसकी क्रियाएं स्वप्न और सूक्ष्म-दर्शनकी चीजोंकी तरह अनुभूत होती हैं। अतिचेतन (अतिमानस, अधिमानस आदि) इस क्षेत्रसे भी परे है और मनके लिये गभीर निद्रा (सुषुप्ति) की तरह है।

*

परंतु इन चीजोंको तुम अंतरात्माके साथ क्यों जोड़ना चाहते हो ? ये चार नाम (विश्व, तैजस, प्रज्ञा और कूटस्थ) परात्पर और वैश्व ब्रह्म या आत्माकी चार अवस्थाओंको दिये गये हैं। ये महज सत्ता और चेतनाकी अवस्थाएं हैं—वह आत्मा जो जागृत अवस्था या स्थूल चेतनाको सहारा देता है, वह आत्मा जो स्वप्नावस्था या सूक्ष्म चेतनाको सहारा देता है, वह आत्मा जो गभीर निद्रावस्था या कारण-चेतनाको सहारा देता है तथा वह आत्मा जो विश्वातीत चेतनामें अवस्थित है। व्यक्ति निस्संदेह भाग लेता है पर ये आत्माकी स्थितियां हैं, व्यक्तिगत आत्मा या अंतरात्माकी नहीं। मांडूक्य उप-निषद्में इन शब्दोंका अर्थ निश्चित कर दिया गया है।

*

तीन-तीन नामोंके इन दो समूहोंका अर्थ एक ही है। विश्व या विराट्का मतलब है बाहरी विश्वका आत्मा, हिरण्यगर्भ या तैजस (ज्योतिर्मय) का अर्थ है आंतर लोकोंका आत्मा, प्रज्ञा या ईश्वरका अर्थ है अतिचेतन आत्मा, सभी वस्तुओंका प्रभु तथा उच्चतम आत्मा जिसपर सब कुछ निर्भर है। मानसिक चेतना ईश्वर नहीं हो सकती।

*

विराट् है बाह्य अभिव्यक्ति और यदि हम उस सबको ब्रह्म मानें और यह न जानें कि अभिव्यक्तिके पीछे क्या है तो हम विश्व देवता-वादकी बौद्धिक भूलमें जा गिरेंगे, यह उपलब्ध नहीं करेंगे कि भगवान् इस बाह्य अभिव्यक्तिसे अधिक हैं तथा एकमात्र इसीके द्वारा नहीं जाने जा सकते। प्राणके क्षेत्रमें हम यह स्वीकार करनेकी भूल कर सकते हैं कि जो कुछ अंधकार और अपूर्णता है उसका भी उतना ही मूल्य है जितना कि उस सबका जो ज्योति और दिव्य पूर्णता उत्पन्न करता है। इनके अलावा भी परिणामस्वरूप अनेक भूलें हो सकती हैं।

३

अतिमानससे मतलब है भागवत प्रकृतिकी पूर्ण सत्य-चेतना जिसमें विभाजन और अज्ञानके तत्त्वके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सर्वदा ही होती है एक पूर्ण ज्योति और ज्ञान जो समस्त मानसिक सत्तत्त्व या मानसिक क्रियासे श्रेष्ठ होता है। अतिमानस और मानव-मनके बीचमें चेतनाके कई क्षेत्र, स्तर या लोक हैं — हम इसे विभिन्न रूपोंमें देख सकते हैं — जिनमें मनका तत्त्व या सत्तत्त्व और फलस्वरूप उसकी क्रियाएं भी अधिकाधिक ज्योतिर्मय और शक्तिशाली और विशाल होती जाती हैं। अधिमानस इन क्षेत्रोंमें सबसे ऊपर है; यह ज्योति और शक्तिसे भरपूर है। परंतु जो कुछ इसके ऊपर है उसकी दृष्टिसे यह वह रेखा है जहांसे जीव पूर्ण और अविभाज्य ज्ञानसे मुंह मोड़ लेता है और अज्ञानकी ओर उतरने लगता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्यसे निकलता है, पर यहींपर सत्यके विभिन्न पहलुओंमें विभाजन होना आरंभ होता है, विभिन्न शक्तियां अलग होने लगती हैं और इस प्रकार कार्य करने लगती हैं मानो वे स्वतंत्र ज्ञान हैं तथा यह ऐसी प्रक्रिया है जो, ज्योंही मनुष्य सामान्य मन, प्राण और जड़तत्त्वकी ओर उतरता है, ऊर्ध्वस्थित अविभाज्य सत्यसे एकदम पूर्ण विभाजन, विखण्डन और विघटनमें जाकर समाप्त होती है। वहां अब मूलगत, सर्वांगपूर्ण, पूर्णतः समन्वयकारी और एकत्वकारक ज्ञान नहीं रहता अथवा वह ज्ञान नहीं रहता जो चिरदिन सामंजस्यपूर्ण होता है क्योंकि वह सदा एक होता है जो कि अतिमानसका स्वभाव है। अतिमानसमें मानसिक विभाजन और विरोध समाप्त हो जाते हैं, हमारे विभाजन और छिन्न-भिन्न करनेवाले मनके द्वारा उत्थापित समस्याएं विलीन हो जाती हैं तथा सत्य एक ज्योतिर्मय

अखंड रूपमें दिखायी देता है। अधिमानसमें आकर वास्तवमें अज्ञान-में पतन नहीं होता, पर पहला कदम उठ गया होता है जो पतनको पीछे अनिवार्य बना देता है।

*

अतिमानस एकमेव सत्य है जो अपनी शक्तियोंकी अभिव्यक्तिको उद्घाटित और निश्चित करता है — सभी शक्तियां इस प्रकार कार्य करती हैं मानो बहुविध एकत्व हों, समस्वर हों, उनमें कोई विरोध या संघर्ष न हो, सबमें निहित एक अखंड संकल्पके अनुसार कार्य करती हों। अधिमानस इन सत्यों को ग्रहण करता है और प्रत्येकको एक ऊर्जाके रूपमें अपने अंदर कार्यरत करता है और उससे उसका आवश्यक परिणाम उत्पन्न होता है — वहां उनके कार्यमें सामंजस्य हो सकता है, पर वह कहीं अधिक कृत्रिम और अधिकांशतः आंशिक होता है, वह अंतर्निहित और अनिवार्य नहीं होता और जैसे-जैसे हम उच्चतम अधिमानससे नीचे उतरते हैं वैसे-वैसे शक्तियोंकी पृथक्ता, मुठभेड़ और विरोधिता बढ़ती जाती है, पृथक्-भाव प्रधानता पाता है, अज्ञान बढ़ता है, जीवन संभावनाओंका अखाड़ा, संघर्षकारी अर्ध-सत्योंका एक सम्मिश्रण और एक अमीमांसित और आपाततः अमीमांसेय पहेली और कूटप्रश्न बन जाता है।

*

यदि अतिमानस हमें किसी भी निम्नतर लोककी अपेक्षा एक महत्तर और पूर्णतर सत्य न दे तो उसे पानेका प्रयास करना उचित नहीं होगा। प्रत्येक लोकके अपने निजी सत्य होते हैं। उनमेंसे कुछ उच्चतर लोकमें सत्य नहीं रह जाते; उदाहरणार्थ, कामना और अहंकार मानसिक, प्राणिक और भौतिक अज्ञानके सत्य हैं — वहां कोई मनुष्य कामना या अहंकारके बिना एक तामसिक यंत्रभर रह जायगा। जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, अहंकार और कामना सत्यके रूपमें नहीं दिखायी देते, वे मिथ्यात्व बन जाते हैं और सच्चे व्यक्तित्व

और सत्य संकल्पको विकृत करते हैं। ज्योतिकी शक्तियों और अंधकारकी शक्तियोंके बीच संघर्ष होना यहांका एक सत्य है—जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, यह धीरे-धीरे कम सत्य बनने लगता है और अतिमानसमें यह बिलकुल सत्य नहीं रह जाता। दूसरे सत्य बने तो रहते हैं पर उनका स्वभाव, महत्त्व, पूर्णके अंदर उनका स्थान बदल जाता है। सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिकके मध्यका विभेद या विरोध अधिमानसका एक सत्य है—अतिमानसमें उनका कोई पृथक् सत्य नहीं है, वे वहां अविभाज्य एक हैं। परंतु जिसने अधिमानसके सत्योंको अधिगत नहीं किया है और जीवनमें नहीं उतारा है वह अतिमानसिक सत्यको नहीं प्राप्त कर सकता। मानव-मनका अक्षम अभिमान तीक्ष्ण विभेद करता है और बाकी सबको सत्य घोषित करना चाहता है तथा तुरत उच्चतम सत्यतक, चाहे वह जो भी हो, कूद जाता है—परंतु वह एक महत्त्वाकांक्षापूर्ण और औद्धत्यपूर्ण भ्रांति है। शिखरतक पहुंचनेके लिये सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ना होता है और प्रत्येक सीढ़ीपर अपने पैरोंको दृढ़तासे रखना पड़ता है।

*

सच पूछा जाय तो जब अधिमानसकी शक्ति (कभी प्रत्यक्ष रूपमें और कभी अप्रत्यक्ष रूपमें) मनको उसके संकीर्ण विभाजनोंसे मुक्त करती है तो साधकमें वैश्व चेतना उद्घाटित होती है और वह विश्वात्मा और वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाके संबंधमें सज्ञान होता है।

इस जगत्में अधिमानस-लोकसे अथवा कम-से-कम उसके माध्यमसे ही वस्तुओंकी मूल पूर्व-व्यवस्था कार्यान्वित होती है; क्योंकि उसीसे निर्णायक विभेद उत्पन्न होते हैं। परंतु सभी स्तरोंपर—मन, प्राण, और यहांतक कि भौतिक स्तरपर भी उससे मिलती-जुलती क्रियाएं होती हैं और निम्नतर चेतनाकी अत्यन्त सुस्पष्ट या ज्योतिपूर्ण अवस्थामें इन क्रियाओंके प्रति सचेतन होना, वस्तुओंकी योजनाको समझना तथा सचेतन यंत्र बनना, या, यहांतक कि एक सीमित हदतक

निश्चायक संकल्प या शक्ति होना भी संभव है। पर निम्नतर लोकोंकी वस्तुएं सर्वदा अधिमानस शक्तियोंके अवतरित होनेपर उनके साथ मिलजुल जाती हैं और उनके सत्य और शक्तिको कम कर देतीं या यहांतक कि मिथ्या बना डालतीं तथा विकृत कर डालती हैं।

अधिमानसके लिये यह भी संभव है कि वह अतिमानसिक ज्योतिके कुछ अंशको चेतनाके निम्नतर लोकोंमें संचारित करे; पर, जबतक अतिमानस सीधे अभिव्यक्त नहीं होता, इसकी ज्योति स्वयं अधिमानसमें भी मंद पड़ जाती है और फिर जब व्यक्तिगत प्रकृतिकी आवश्यकताओं, मांगों, सीमित करनेवाली संभावनाओंके अनुसार वह व्यवहृत होती है तो और भी अधिक क्षीण हो जाती है। इस ह्रास-प्राप्त और परिवर्तित ज्योतिको, उदाहरणार्थ, शरीरको शुद्ध करनेमें, तुरत-फुरत सफलता नहीं मिल सकती और न उसकी सफलता उतनी पूर्ण और प्रत्यक्ष ही हो सकती है जितनी कि अतिमानसिक क्रिया होगी। यह अभी भी सापेक्षिक होती है, व्यक्तिगत प्रकृति तथा विश्वव्यापी शक्तियोंके संतुलनके द्वारा प्रसीमित और विरोधी शक्तियों द्वारा अवरुद्ध होती है, निम्न क्रियाओंमें बंद होनेकी अनिच्छा होनेके कारण अपना पूर्ण परिणाम नहीं उत्पन्न कर पाती और भौतिक प्रकृतिमें पूर्ण सहमतिके अभावके कारण या तो अपने क्षेत्र या फलोत्पादकता-में सीमित होती है।

*

अतिमानसका अवतरण संभव होनेसे पहले अधिमानसको प्राप्त करना और उसे नीचे उतारना आवश्यक है — क्योंकि अधिमानस ही वह रास्ता है जिसके भीतरसे होकर मनुष्य मनसे अतिमनमें जाता है।

अधिमानससे ही वस्तुओंके सृजनात्मक सत्यकी ये सब विभिन्न व्यवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। अधिमानसमेंसे निकलकर वे संबोधिके क्षेत्रमें आती हैं और वहांसे ज्योतिर्मय और उच्चतर मनमें संचारित

कर दी जाती हैं जिसमें वहां उन्हें हमारी बुद्धिके लिये व्यवस्थित कर दिया जाय। परंतु इस प्रकार नीचे भेजनेपर जैसे-जैसे वे निम्नतर स्तरोंमें आती हैं, अपनी शक्ति और निश्चितताको अधिकाधिक खोती जाती हैं। प्रत्यक्षतः दृष्ट सत्यकी जो शक्ति उनमें होती है वह मानव-मनमें आकर खो जाती है। कारण, मानव-बुद्धिको वे महज कल्पनाप्रसूत भावनाएं प्रतीत होती हैं, अनुभूत सत्य, प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं, कोई सशक्त दर्शन नहीं प्रतीत होतीं जिसके साथ एक ठोस अस्वीकार्य अनुभव जुड़ा हुआ होता है।

*

मनोमय अधिमानससे अतिमानसभावापन्न अधिमानसमें जानेके बहुतसे स्तर हैं और फिर वहांसे अतिमानसिक अधिमानसतक और फिर वहांसे अतिमानसतक जानेके कई स्तर हैं। यह कहनेकी जल्दबाजी मत करो कि "यही अंतिम और उच्चतम अधिमानस है।"

*

अतिमानसिक अधिमानस अभी अधिमानस ही है — वह सच्चे अतिमानसका कोई अंग नहीं है। कोई सच्चे अतिमानसमें (किसी प्रकारकी समाधि-अवस्थाके अलावा) तबतक नहीं प्रवेश कर सकता जबतक कि वह पहले केवल ध्यान और आंतरिक अनुभवमें ही अधिमानसको उपलब्ध नहीं कर लेता बल्कि अपने जीवन, वाणी, कार्य, बाह्य ज्ञान आदितकमें उसको दृष्टिगोचर नहीं करता।

*

'योग-समन्वय' (The Synthesis of Yoga) के अंतिम अध्याय जब 'आर्य' में लिखे गये थे तब 'अधिमानस' (overmind) शब्दका पता नहीं था, इसलिये उसमें इसका कोई जिक्र नहीं है। उन अध्यायोंमें जो कुछ वर्णित है वह अतिमानसकी क्रिया है जब कि वह अधिमानस स्तरमें अवतरित होता तथा अधिमानस-क्रियाओंको लेकर उन्हें रूपांतरित करता है। उच्चतम अतिमानस अथवा

भागवत विज्ञान, जो स्वयं-स्थित है, ऐसी चीज है जो और भी परे स्थित है और एकदम ऊपर है। बादके अध्यायोंमें यह दिखानेकी इच्छा थी कि यह भी कितना कठिन है और मानव मन तथा अति-मानसके बीच कितने स्तर हैं और जब अतिमानस उतरता है तब भी किस प्रकार वह निम्नतर क्रियाओंसे मिलजुल सकता तथा एक ऐसी वस्तुमें बदल जा सकता है जो यथार्थ सत्यसे कम होता है। पर ये बादके अध्याय लिखे नहीं गये।

*

संभवतः जिसे वह अधिमानस कहता है वह चेतनाका पहला "मानसोत्तर" स्तर है। अथवा ये वृहत्तर मन या प्राण-क्षेत्रोंके अनुभव हो सकता हैं। मानव-मनके लिये ये इतने बड़े होते हैं कि उन्हें अधिमानस या यहांतक कि अतिमानस समझना बड़ा आसान होता है। यदि कोई विश्व-चेतनाकी ओर उद्घाटित हो जाय तो उसे अधिमानस-का प्रत्यक्ष स्पर्श प्राप्त हो सकता है, और यदि वह उस चेतनामें स्वाधीनतापूर्वक प्रवेश कर जाय तो उससे भी अधिक स्पर्श प्राप्त हो सकता है। जबतक सत्ताका कम-से-कम एक भाग विशालता और शांतिमें नहीं स्थापित हो जाता तबतक प्रत्यक्ष रूपसे अधि-मानसिक अनुभव नहीं प्राप्त हो सकता।

*

संबोधि आलोकित मनसे ऊपर है — आलोकित मन महज उच्च-तर मन है जो महान् ज्योतिमें उठा दिया गया है और संबोधि तथा अंतःप्रेरणाके परिवर्तित रूपोंकी ओर अधिक खुला हुआ है।

*

संबोधि पहला स्तर है जिसमें उपलब्धिकी पूरी संभावनाकी ओर सच्चा उद्घाटन होता है — इसीके भीतरसे होकर मनुष्य और आगे जाता है — सबसे पहले अधिमानसमें और फिर अतिमानसमें जाता है।

*

संबोधि या संबुद्ध मन वस्तुओंके सत्यको एक प्रत्यक्ष आंतरिक संपर्कके द्वारा देखता है; वह सामान्य मानवीय बुद्धिकी तरह इंद्रियों आदिकी सहायतासे प्रत्यक्ष संपर्कोंको खोजकर और प्राप्त करके नहीं देखता। अतिमानसके मुकाबलेमें संबोधिकी सीमा यह है कि यह वस्तुओंको एक-एक करके चमकके रूपमें देखता है, सबको एक अखंड रूपमें नहीं देखता। फिर मनमें आनेपर यह मानसिक क्रियाके साथ मिलजुल जाता है और एक प्रकारकी अंत:प्रेरणात्मक मनकी क्रियाका निर्माण करता है जो शुद्ध सत्य नहीं होती बल्कि उच्चतर सत्य तथा मानसिक खोजके बीचकी कोई चीज होती है। यह चेतनाको एक प्रकारकी मध्यवर्ती स्थितिमेंसे आगे ले जा सकती है और व्यवहारत: यही उसका कार्य है।

*

मानसिक अंत:प्रेरणात्मक ज्ञान सीधे सत्यके किसी रूपको पकड़ता है, पर उसमें कोई पूर्णता या सुनिश्चितता नहीं होती और अंत:-प्रेरणा असानीसे उस सामान्य मानसिक वस्तुके साथ घुलमिल जाती है जो भ्रांतिपूर्ण हो सकती है। व्यवहारमें यह सहज ही अर्ध-सत्य हो सकती है अथवा इस तरह इसकी मूल व्याख्या की जा सकती और गलत रूपमें इसका प्रयोग किया जा सकता है कि यह एक भ्रांति बन जाय। इसके अतिरिक्त मन आसानीसे अंत:प्रेरणाकी नकल ऐसे ढंगसे कर सकता है कि सच्ची या झूठी अंत:प्रेरणामें विभेद करना कठिन हो जाय। यही कारण है कि बुद्धिप्रधान मनुष्य मान-सिक अंत:प्रेरणापर अविश्वास करते हैं और कहते हैं कि उसे तबतक स्वीकार नहीं किया जा सकता अथवा उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता जबतक कि उसे बुद्धिके द्वारा जांच न लिया जाय और उसे प्रमाणित न कर लिया जाय। अधिमानसिक अंत:प्रेरणामेंसे जो कुछ आता है उसमें एक ज्योति, सुनिश्चितता तथा सत्यकी एक

4

प्रभावशाली शक्ति होती है जो उत्तम-से-उत्तम मानसिक अंतः-प्रेरणामें भी नहीं होती।

*

मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-भौतिक अंतःप्रेरणाएं होती हैं और साथ-ही-साथ उच्चतर और आलोकित मनसे आनेवाली अंतःप्रेरणाएं भी होती हैं।

*

यह (विज्ञान और संवोधिके साथ बुद्धिको एक समझना) दार्शनिकों तथा टीकाकारोंकी अति-बौद्धिकतासे उत्पन्न एक भूल है। मैं नहीं समझता कि बुद्धि अंतःप्रेरणाको युक्तिप्रधान मनसे भिन्न प्रकारकी कोई वस्तु मानती है। बुद्धिवादी लोग अंतःप्रेरणाको वस मानसिक चिंतनकी एक द्रुत प्रक्रिया मानते थे — और वे अव भी ऐसा ही सोचते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्में 'विज्ञान' का अर्थ विलकुल स्पष्ट है — इसका सार है ऋतम् अर्थात् आध्यात्मिक सत्य; पर वादमें इसे सामान्य रूपसे बुद्धिसे अभिन्न समझा जाने लगा।

४

हमारे योगमें "केंद्रीय सत्ता" पदका प्रयोग सामान्यतया हमारे अंदर विद्यमान भगवान्‌के उस अंशके लिये होता है जो हमारे बाकी सभी अंगोंको सहारा देता और जन्म-मृत्युमें भी अपना अस्तित्व बनाये रखता है। इस केंद्रीय सत्ताके दो रूप हैं — ऊपर, यह जीवात्मन् है, हमारा सच्चा स्वरूप है जिसके विषयमें हम तब सचेतन होते हैं जब हमें उच्चतर आत्मज्ञान प्राप्त होता है, — नीचे, यह चैत्य पुरुष[1] है जो मन, शरीर और प्राणके पीछे स्थित है। जीवात्मन् जीवनमें होनेवाली अभिव्यक्तिसे ऊपर रहता तथा उसकी अध्यक्षता करता है; चैत्य पुरुष जीवनमें होनेवाली अभिव्यक्तिके पीछे रहता है और उसे सहारा देता है।

चैत्य पुरुषका स्वाभाविक भाव होता है अपने-आपको ईश्वरका बालक, उनकी संतान, उनका भक्त अनुभव करना; वह भगवान्‌का एक अंश होता है, सारतः उनके साथ 'एक' होता है, किंतु अभिव्यक्तिकी क्रियाके अंदर उस एकत्वमें भी सदा एक भेद बना रहता है। इसके विपरीत, जीवात्मन् सार-रूपमें विद्यमान रहता है और भगवान्‌के साथ प्राप्त एकत्वमें विलीन हो सकता है; किंतु वह भी, जिस क्षण अभिव्यक्तिकी क्रियाओंके ऊपर अध्यक्षता करता है, अपने-आपको 'बहु'-रूप भगवान्‌के एक केंद्रके रूपमें जानता है, न कि परमेश्वरके रूपमें। इस भेदको याद रखना बड़ा आवश्यक है; क्योंकि ऐसा न होनेपर, प्राणिक अहं यदि जरा भी आ जाय तो

---

[1]चैत्य पुरुषके संबंधमें पूरी जानकारी हमारी प्रकाशित पुस्तकें "चैत्य पुरुष भाग १, २ और ३" से प्राप्त हो सकती है।— सं०

व्यक्ति अपने-आपको अवतार समझने लग सकता है अथवा रामकृष्ण-के साथ रहनेवाले हृदयकी तरह संतुलन खो सकता है।

*

संस्कृत भाषामें "जीव" शब्दके दो अर्थ हैं — "सजीव प्राणी"[1] और आत्मा जो व्यष्टिभावापन्न हुआ है और सजीव प्राणीको जन्म-जन्ममें होनेवाले उसके क्रमविकासमें धारण करता है। दूसरे अर्थ में पूरा शब्द है जीवात्मा — सजीव सत्ताका आत्मा अथवा शाश्वत स्वरूप। गीतामें रूपककी भाषामें इसे "भगवान्का शाश्वत अंश" कहा गया है — परंतु तुमने जो खंड (fragmentation) शब्दका व्यवहार किया है वह बहुत कड़ा शब्द है, इसका व्यवहार आकारों-के लिये तो किया जा सकता है पर उनमें विद्यमान आत्माके लिये नहीं किया जा सकता। अधिकंतु, 'बहु' भगवान् एक शाश्वत सत्य हैं जो इस सृष्टिके पहलेसे हैं। जीवात्माका विस्तृत वर्णन यह होगा कि "वह 'बहु'-रूप भगवान् है जो यहां सृष्ट सत्ताके व्यष्टिगत आत्मा-के रूपमें अभिव्यक्त हुआ है।" जीवात्मा अपने मूल रूपमें न तो परि-वर्तित होता है और न विकसित, अपने मूल रूपमें यह वैयक्तिक क्रम-विकासके ऊपर अवस्थित रहता है; स्वयं क्रमविकासके अंदर उसका प्रतिनिधित्व करता है विकसनशील चैत्य पुरुष जो प्रकृतिके बाकी सभी अंगोंको सहारा देता है।

अद्वैत वेदांत यह घोषित करता है कि जीवनका कोई सच्चा अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भगवान् अविभाजेय हैं। दूसरा मत जीवके सच्चे अस्तित्वको स्वीकार तो करता है पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता — उसका कहना है कि वह तत्त्वतः एक है, अभिव्यक्ति-

---

[1]भारतमें जब कोई किसी छोटे-से पशुको जानसे मारने लगता है तो लोग बहुधा यह कहकर उसका विरोध करते हैं कि "मत मारो — यह भगवान्का एक जीव (उनका सजीव प्राणी है)।"

में भिन्न है, और चूंकि अभिव्यक्ति सत्य, शाश्वत है, कोई भ्रम नहीं है, इसलिये उसे भी असत्य नहीं कह सकते। द्वैतवादी दर्शन जीवको एक स्वतंत्र श्रेणी मानते हैं और उनका सिद्धांत ईश्वर, जीव और प्रकृतिके त्रैतपर आधारित है।

*

....निम्न प्रकृति, अपरा प्रकृति है यह बाह्य विषयभूत और उपरितलीय विषयीभूत आपातदृष्ट प्रकृति जो इन सब मन, प्राण, और शरीरोंको अभिव्यक्त करती है। इसके पीछे छिपी हुई उच्च प्रकृति, परा प्रकृति ठीक भगवान्‌की प्रकृति है — परम चित्‌शक्ति है जो बहु-रूप भगवान्‌को अनेकमें अभिव्यक्त करती है। ये अनेक भगवान्‌की पराप्रकृतिमें, उन्हींके शाश्वत स्वरूप हैं। यहां विश्वके संबंधसे वे जीवात्मा-रूपसे दिखायी देते हैं और क्षर संभूतिके अंदर, जो क्षर (अस्थिर या विकारशील) पुरुषका जीवन है, 'सर्वभूतानि' के क्रमविकासको सहारा देते हैं। जीव (अथवा जीवात्मा) और जीव (प्राणी), सर्वभूतानि, एक ही चीज नहीं हैं। वास्तवमें जीवात्मा जब सृष्टिसे संबंध रखता है तो भी वह उससे ऊपर अवस्थित होता है; सर्वभूत तो प्रकृतिके प्राणी हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सरी-सृप सर्वभूत हैं, पर उनमें विद्यमान व्यष्टि-आत्मा एक क्षणके लिये भी स्वभावतः मनुष्य, पक्षी, पशु या सरीसृप नहीं है; अपने क्रमविकासमें वह इन सभी परिवर्तनोंमें एक ही चीज बना रहता है, अध्यात्म-पुरुष बना रहता है जो प्रकृतिकी क्रीड़ाको अनुमति देता है।

भगवान्‌में जो चिरकाल आदि और शाश्वत है वह है सत् या पुरुष; जो कुछ चेतना, परिस्थितियों, शक्तियों, रूपों आदिमें भागवत शक्तिद्वारा विकसित किया गया है वह है भूतानि। शाश्वत भगवान् सत्पुरुष हैं; कालमें विद्यमान विश्व और जो कुछ उसमें दृष्टिगोचर होता है वह सब भूतानि है। शाश्वत पुरुष अर्थात् भगवान् अपनी पराप्रकृतिमें एक साथ ही एक भी हैं और बहु भी; परंतु जब भग-

वान्‌का शाश्वत बहुत्व सृष्ट सत्ताओंके, सर्वभूतानिके पीछे अवस्थित होता है तो वह जीवके रूपमें दिखायी देता है (अथवा, जैसा कि हम कहते हैं, जीव बन जाता है), **परा प्रकृतिर्जीवभूता**।.....

केंद्रीय पुरुष वह पुरुष है जो एकके बाद एक विभिन्न जन्मोंपर अधिष्ठान करता है, पर स्वयं वह अजन्मा है, क्योंकि वह सत्ताके अंदर अवतरित नहीं होता वरन् उससे ऊपर रहता है — वह मनोमय, प्राणमय और अन्नमय सत्ता तथा व्यक्तित्वके सभी विभिन्न अंगोंको एक साथ धारण करता है। वह या तो मनोमय पुरुष और मानसिक विचार और संकल्पके द्वारा अथवा चैत्य पुरुषके द्वारा — उनमेंसे जो भी प्रकृतिमें सबसे अधिक आगेकी ओर या सबसे अधिक शक्तिसंपन्न होता है उसके द्वारा — जीवनको संयमित करता है। यदि वह अपने नियमका प्रयोग नहीं करता तो चेतनामें महान् गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है और व्यक्तित्वका प्रत्येक अंश अपने ढंगसे कार्य करने लगता है जिससे विचार, भाव या कार्यमें कोई संगति नहीं रहती।....

केंद्रीय पुरुष — जीवात्मा जो न तो जन्म लेता है और न विकसित होता है पर व्यक्तिगत जन्म और विकासकी अध्यक्षता करता है — चेतनाके प्रत्येक स्तरपर अपना प्रतिनिधि स्थापित करता है। मानसिक स्तरपर वह सच्चा मनोमय पुरुष, प्राण स्तरपर सच्चा प्राणपुरुष और भौतिक स्तरपर सच्चा अन्नमय पुरुष होता है। अतएव, जबतक अज्ञान बना रहता है, प्रत्येक जीव, जिस स्तरपर वह प्रधानतया रहता है उसके अनुसार, अपने मनोमय, प्राणमय या अन्नमय पुरुषके चारों ओर केंद्रित होता है और वही उसके लिये केंद्रीय पुरुष होता है। परंतु सब समय उसका सच्चा प्रतिनिधि मन, प्राण और शरीरके पीछे छिपा रहता है — वह है हमारा अंतरतम पुरुष, चैत्य पुरुष।

जब अंतरतम ज्ञान आना आरंभ करता है तो हम अपने अंदर

विद्यमान चैत्य पुरुषके विषयमें सचेतन होते हैं और वह आगे आता और साधनामें पथप्रदर्शन करने लगता है। हम अपने जीवात्माके विषयमें भी सचेतन होते हैं जो अभिव्यक्तिके ऊपर अवस्थित अविभक्त आत्मा है जिसका प्रतिनिधि यहां चैत्य पुरुष है।

*

इसे समझाना थोड़ा कठिन है। शायद सबसे उत्तम यह होगा कि मैं अपना उत्तर कई अलग-अलग वक्तव्योंमें विभक्त कर दूं। क्योंकि दूसरे ढंगसे उत्तर देनेपर सारी बात बहुत अधिक उलझ जायगी।

१. तुमने अद्वैतवादीके विशुद्ध "मैं" की बात लिखी है जिससे तुम्हारा मतलब शायद उस वस्तुसे है जो कहती है कि "मैं वह हूं", और उस बोधकी सहायतासे वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है। जीवात्माके विषयमें जो मेरी धारणा या अनुभव है उसके साथ उस "मैं" को एकरूप समझना असंभव है। मायावादियोंके अद्वैतके अनुसार यह जीवात्मा स्वयं ईश्वरकी तरह ही, भ्रमात्मक मायाके अंदर ब्रह्मका ही महज एक आभास है। उनके मतानुसार कोई ईश्वर, जगत्का स्वामी नहीं है, क्योंकि कोई जगत् ही नहीं है — यदि है तो बस मायाके अंदर है; अतएव वहां कोई जीवात्मा भी नहीं है, केवल परमात्मा ही भ्रमवश मायामें विद्यमान निम्नतर (भ्रांतिपूर्ण) चेतनाको व्यक्तिगत आत्माके रूपमें दिखायी पड़ता है। दूसरी ओर, जो लोग ईश्वरके साथ युक्त होना चाहते हैं वे जीवको या तो ईश्वराश्रित एक पृथक् सत्ताके रूपमें अथवा उनके साथ तत्त्वतः एक, फिर भी भिन्न, किसी सत्ताके रूपमें देखते या अनुभव करते हैं और जीवका ईश्वरके साथ यह विभेद, मौलिक एकत्वकी तरह ही, शाश्वत होता है — और फिर जीवात्माके संबंधमें तथा भगवान् या परात्पर सत्ताके साथ उसके संबंधके बारेमें और दूसरी भावनाएं भी हैं। अतएव यह विशुद्ध "मैं", यदि इसी भांति इसका वर्णन किया जाय तो,

हम कह सकते हैं कि, अलग-अलग, विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न लोगोंके सम्मुख अपनेको प्रस्तुत करता है। यदि तुम यह पूछो कि क्यों, तो मैं कहूंगा कि 'अ' को दिये गये मेरे उत्तरको देखो। अधिमानस वस्तुओंके सत्यको नाना प्रकारके रूपोंमें प्रस्तुत करता है और मन, यहांतक कि आध्यात्मिक मन भी, किसी एक ही रूपको यथार्थ सत्य, उस विषयका एकमात्र यथार्थ सत्य मान बैठता है। यह मन ही ये सब विभेद करता है, पर इससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि, अंतरात्मा कहो या व्यष्टि-चेतना कहो या जो कुछ भी नाम तुम उसे दो, उसे देखने और अनुभव करनेके अपने निजी पथसे मानसिक सत्ता जहां उसे जाना होता है वहां जाती है। मैं आशा करता हूं कि इस विषयके प्रथम पगके रूपमें इतनी-सी बात सुस्पष्ट है।

२. मैं इस तथ्यका बिलकुल खंडन नहीं करता कि मनुष्य आत्मा, ब्रह्म या ईश्वरका साक्षात्कार ऊर्ध्ववर्ती क्षेत्रोंमें, गतिशील आध्यात्मिक स्तरोंमें गये बिना, अथवा, जैसा कि इस योगमें होता है, शरीरसे ऊपर स्थायी रूपसे अवस्थान किये बिना, प्राप्त कर सकता है। यदि यह साक्षात्कार सहस्रारके द्वारा भी हो तो भी, चूंकि सहस्रार अध्यात्मभावापन्न मनतक फैला हुआ है और मस्तकके शीर्षस्थानपर अनुभूत हो सकता है, इसलिये ऊपर उठनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु, इसके अलावा, जैसा कि तुम कहते हो, मनुष्य यदि मन और हृदयके पीछे अवस्थित हो जाय, अपने-आपको प्रकृतिके भागोंसे अनासक्त कर ले, मन, प्राण और शरीरके साथ तादात्म्य रखना छोड़ दे और आंतरिक निश्चल-नीरवतामें डूब जाय तो आत्माको बहुत अच्छी तरह उपलब्ध कर सकता है। इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य आंतरिक मन या आंतरिक प्राणके राज्योंकी छान-बीन करे, और ऊपरके क्षेत्रोंमें अपने पंख फैलाना तो और भी कम अनिवार्य है। आत्मा सर्वत्र है और पूर्ण अनासक्ति और नीरवतामें, अथवा अनासक्ति या नीरवता किसी एकमें भी प्रविष्ट होनेपर मनुष्य

किसी-न-किसी जगह आत्माकी कुछ झांकी, कोई प्रतिबिंब, संभवतः परिपूर्ण प्रतिबिंबतक भी, अथवा उसका कोई बोध प्राप्त कर सकता या स्वयं उस वस्तुमें डूब जानेका अनुभव पा सकता है जो मुक्त, विशाल, नीरव, शाश्वत और अनंत है। स्पष्ट ही, यदि यह विशुद्ध "मैं" है, चाहे उसका स्वभाव जो भी हो, जो कि अनुभव प्राप्त करता है तो अनुभव प्राप्त करनेवाली चेतनाको उसे सत्ताके व्यक्तिगत आत्मा, जीवात्मन्के रूपमें देखना चाहिये।

३. मनुष्यको अपने विषयमें यह भी अनुभव हो सकता है कि मैं मन नहीं हूं बल्कि विचारक हूं, हृदय नहीं हूं बल्कि आत्मा या "मैं" हूं जो भावनाओंको धारण करता है, प्राण नहीं हूं पर उसे धारण करनेवाला हूं, शरीर नहीं हूं पर शरीर धारण करनेवाला हूं। यह आत्मा स्पष्ट ही सचल और साथ ही निश्चल-नीरव हो सकता है, अथवा तुम यह भी कह सकते हो कि, यद्यपि वह स्थिर और अचल है, वह अपनी नीरवताके भीतरसे प्रकृतिकी क्रियाशीलताको सृष्ट करता है। मनुष्य इसके बारेमें यह भी अनुभव कर सकता है कि यह सबके अंदर विराजमान एक आत्मा है तथा स्वयं मेरा सच्चा "मैं" भी है। सब कुछ निर्भर करता है मनुष्यके अनुभवपर। सामान्यतया वह पुरुषका ही अनुभव होता है जब वह निश्चल-नीरव, समस्त प्रकृतिके धर्त्ता साक्षीके रूपमें अनुभूत होता है। परंतु पुरुष ज्ञाता और ईश्वरके रूपमें भी अनुभूत हो सकता है। कभी-कभी मनोमय पुरुषके रूपमें या उसके द्वारा किसी-न-किसी एक केंद्रमें, कभी-कभी प्राणमय पुरुष या उसके द्वारा मनुष्यका आत्मा अनुभूत हो सकता है। यह भी संभव है कि मनुष्य अपने अंदर विद्यमान गुप्त चैत्य पुरुषको अपने सच्चे व्यक्तित्वके रूपमें अनुभव करे। अथवा, मनुष्य अपने चैत्य पुरुषको विशुद्ध "मैं" और इन सब मन या प्राणमें स्थित अन्य सत्ताओंको इन लोकों या स्तरोंमें अपना प्रतिनिधि समझे। अपने अनुभवके अनुसार मनुष्य इनमेंसे किसीको जीव

या विशुद्ध "मैं" (यह शब्द बड़ा संदेहात्मक है) या सच्चा पुरुष या यथार्थ व्यक्ति कह सकता है जो अपनेको वैश्व या परात्पर पुरुषके साथ एक या उसका अंश या उसपर पूर्णतः आश्रित जानता है और उसमें विलीन हो जाना चाहता है या उसमें आरोहण करना और वही हो जाना अथवा उसके साथ एकात्म होकर रहना चाहता है। ये सारी बातें बिलकुल संभव हैं और इसके लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्यको ऊर्ध्व लोकोंका अनुभव हो अथवा उसे ऊर्ध्वस्थित स्थायी शाश्वत सत्ताका अनुभव प्राप्त हो।

४. यहां प्रश्न उठ सकता है, पहले, यह कि तब ऐसा क्यों न कहा जाय कि इस तरहसे जिस जीवात्माकी उपलब्धि हो सकती है वह विशुद्ध "मैं" है जिसका अनुभव निम्नतर आत्माको होता है और जिसके द्वारा उसे मुक्ति प्राप्त होती है; और दूसरे, भला ऊर्ध्वस्थ लोकोंमें जानेकी ही क्या आवश्यकता है? हां, सबसे पहले, निर्व्यक्तिक आत्मा या ब्रह्म या किसी भी शाश्वत सत्तामें मुक्ति प्राप्त करानेवाले एक मध्यस्थके रूपमें यह विशुद्ध "मैं" नितांत आवश्यक नहीं प्रतीत होता। बौद्ध लोग किसी अंतरात्मा या आत्मा या विशुद्ध "मैं" के अनुभवको नहीं स्वीकार करते; वे संस्कारोंके ढेरमें चेतनाको लीन करके आगे बढ़ते हैं, संस्कारोंसे छुटकारा पाते हैं और इस तरह किसी शाश्वत सत्तामें मुक्त हो जाते हैं जिसका वर्णन करना वे अस्वीकार करते हैं अथवा किसी शून्यमें मुक्त हो जाते हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य जो शाश्वत सत्तामें मुक्त होना चाहता है और आध्यात्मिक मनसे ऊपर किसी उच्चतर ज्योतिमें पहुंचे बिना उसे प्राप्त करके संतुष्ट हो जाता है वह विशुद्ध "मैं" या जीवात्माका अनुभव करनेके लिये बाध्य नहीं है। मुझे स्वयं भी जब निर्वाणका या ब्रह्मकी निश्चल-नीरवताका अनुभव हुआ था उससे पहले मुझे ऊर्ध्वस्थ आध्यात्मिक लोकोंका कोई ज्ञान प्राप्त नहीं था। यह अनुभव सबसे पहले महज पूर्ण स्थिरता या मानो सभी मानसिक, हृद्गत और

अन्य आंतरिक क्रियाओंके विलोपके द्वारा प्राप्त हुआ था — निस्संदेह, शरीरका देखना, चलना, बोलना और अन्य कार्य करना जारी था पर मानो कोई खाली अपने-आप चलनेवाली मशीन हो, इससे अधिक कुछ न हो। मुझे किसी विशुद्ध "मैं" का ज्ञान नहीं था और न किसी आत्माका ही, चाहे वह निर्व्यक्तिक हो या और कुछ, — उस समय बस एकमात्र सद्वस्तुके रूपमें 'तत्' का ज्ञान था, उसके सिवा अन्य सब कुछ बिलकुल निस्सार, शून्य, असत् था। यदि यह पूछा जाय कि किसने उस सद्वस्तुका अनुभव किया तो हम कहेंगे कि वह एक नामरहित चेतना थी जो उस 'तत्'[1] से भिन्न और कुछ नहीं थी। इसे शायद हम कह सकते हैं, यद्यपि मुश्किलसे ही इतना कहा जा सकता है, क्योंकि उस समय मनमें इसकी कोई धारणा नहीं थी, पर इससे अधिक नहीं कहा जा सकता। उस समय मुझे किसी निम्नतर अंतरात्मा या बाह्य आत्माका ज्ञान नहीं था जिसका एक-न-एक नाम हो और जो निर्वाणकी चेतना प्राप्त करनेकी यह करामात कर रहा हो। तो फिर, यहां तुम्हारे विशुद्ध "मैं" और निम्नतर "मैं" का क्या हो गया ? चेतनाने (चेतनाका यह या वह भाग नहीं अथवा किसी प्रकारका कोई "मैं" नहीं) एकाएक अपने भीतरकी सभी चीजोंको बाहर निकाल दिया और उसे अपने चारों ओरकी असत्य वस्तुओंका तथा किसी सत्यपर अकथनीय वस्तुका बोध बना रहा। तुम कह सकते हो कि उस समय कोई चेतना अवश्य रही होगी जो यदि किसी विशुद्ध "मैं" के विषयमें नहीं तो किसी द्रष्टा सत्ताके विषयमें सचेतन होगी, पर यदि ऐसा हो तो, वह एक ऐसी

---

[1]ध्यान रहे कि मैंने इन चीजोंको मनमें सोचा नहीं, उस समय कोई विचार नहीं था या कोई धारणा नहीं थी और न वे सब चीजें किसी 'मैं' के सामने प्रकट ही हुईं; यह बस ठीक ऐसा ही था या इस तरह स्वयं प्रतीत होता था।

चीज थी जिसके लिये ये सब नाम अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

५. मैंने कहा है कि सामान्य आध्यात्मिक उद्देश्योंके लिये ऊर्ध्व-स्व स्तरोंमें आरोहण करना अनिवार्य नहीं है,—पर इस योगके उद्देश्यके लिये वह अनिवार्य है। क्योंकि इसका उद्देश्य है एक ऐसी सत्य-चेतनाका ज्ञान प्राप्त करना और उसकी ज्योतिमें अपनी समस्त सत्ताको मुक्त, रूपांतरित और संयुक्त करना जो ऊपर है और जिसे तबतक प्राप्त नहीं किया जा सकता जबतक कि पूर्णतः भीतर न पैठा जाय और ऊपर जाने तथा अतिक्रांत करनेकी क्रिया न की जाय। इसलिये मेरे पूर्ण मनोवैज्ञानिक विवेचनमें सब तरहकी जटिलताएं आ गयी हैं—यद्यपि मूलतः ये बातें नयी नहीं हैं, क्योंकि इनमेंसे अधिकांश बातें उपनिषदोंमें तथा अन्यत्र पायी जाती हैं, परंतु एक पूर्ण विवरणके रूपमें और पूर्णयोगकी ओर जानेवाले अपने एक विकासकी दृष्टिसे नयी हैं। जबतक किसीका उद्देश्य ऐसा ही न हो तबतक यह आवश्यक नहीं कि वह इसे स्वीकर ही करे। दूसरे उद्देश्योंके लिये यह अनावश्यक है और यह पूर्णतः अतिरिक्त भी हो सकता है।

६. परंतु मनुष्य जब आंतरिक खोज कर चुकता और आरोहण कर चुकता है, जब उसकी चेतना ऊपर स्थित हो जाती है तो उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह चीजोंको ठीक वैसे ही देखेगा जैसी कि वे नीचे दिखायी पड़ती हैं। मेरे लिये जीवात्मा अजन्मा है, वह व्यक्तिगत सत्ता और उसकी विकासक्रियापर अध्यक्षता करता है, उससे संबंधित तो होता है पर उससे और उसके विकसित रूपोंसे ऊपर होता है, अपनी सत्ताके स्वभावश ही अपनेको विश्वव्यापी और परात्पर तथा उतना ही व्यक्तिगत भी समझता है एवं भगवान्‌को अपना मूल स्रोत, अपनी सत्ताका सत्य, अपने स्वभावका स्वामी और अपनी सत्ताका एकदम उपादानतत्त्व अनुभव करता है। वह भगवान्‌में डूबा हुआ है और सनातनके साथ सदाके लिये संयुक्त है,

वह अपनी अभिव्यक्ति और यंत्ररूप क्रियाशक्तियोंको जो कि भगवान्‌की हैं, जानता है, प्रेम और आनंदमें तथा पूजाभावके साथ 'उस' पर आश्रित है जिसके साथ उस प्रेम और आनंदके द्वारा वह एक है, एकत्वमें भी संबंध रखनेमें समर्थ है, इस बहुविधतामें भी बिना किसी विरोधके सामंजस्यपूर्ण होता है, क्योंकि यह मनसे, यहांतक कि अध्यात्मभावापन्न मनसे भी भिन्न दूसरी चेतना और सत्ता है; यह अनंतकी एक सहज-स्वाभाविक चेतना है; वह अनंत केवल तत्त्वतः ही अनंत नहीं है बल्कि क्षमतामें भी है, और वह अपने आत्मज्ञानके सम्मुख समस्त वस्तुएं बन सकता है और फिर भी सदा वही और एकमेव बना रह सकता है। अतएव, यह श्रैत अनुभूति मनके लिये कठिनाइयोंसे भरी है, पर अतिमानसिक चेतना अथवा, सामान्यतः, ऊर्ध्व गोलार्धकी चेतनाके लिये बिलकुल स्वाभाविक, आसान और निर्विवाद है। यह सभी आध्यात्मिक स्तरोंपर ज्ञान-रूपमें देखा और अनुभव किया जा सकता है, पर यह पूर्णतः अविभाज्य ज्ञान है, इसकी पूर्ण क्रियाशक्तिका अनुभव स्वयं अतिमानसिक चेतनाके द्वारा उसीके लोकमें अथवा उसका यहां अवतरण होनेपर ही हो सकता है।

७. विशुद्ध "मैं" का वर्णन जीवात्माकी अनुभूतिका वर्णन करनेके लिये बिलकुल अपर्याप्त है — उसका वर्णन बल्कि सच्चा पुरुष या दिव्य व्यक्तित्व कहकर किया जा सकता है, पर यह भी पर्याप्त नहीं है। "मैं" शब्दके पीछे बराबर ही अहंका, पृथक्ताका भाव छिपा रहता है; परंतु इस आत्मदर्शनमें कोई पृथक्ताका भाव नहीं है, कारण, यहां व्यक्ति एकमेवके लिये कार्यका एक आध्यात्मिक जीवंत केंद्र है और सर्वके साथ जो कि एक है, पार्थक्य अनुभव नहीं करता।

८. यहां व्यक्तिगत प्रकृतिमें जीवात्माकी एक प्रतिनिधि-शक्ति है। यह शक्ति है वह पुरुष जो प्रकृतिको धारण करता है — केंद्रीय रूपसे वह चैत्य सत्तामें है और अधिक यंत्रात्मक रूपसे मन, प्राण और भौतिक सत्ता तथा प्रकृतिमें है। इसलिये यह संभव है

कि मनुष्य इनको या इनमेंसे किसी एकको इस रूपमें देखे मानो ये यहां जीव हों। पर जो हो, मैं इनमें विभेद करनेके लिये वाध्य हूं — केवल सुस्पष्ट चिंतनके लिये ही नहीं वरन् इसलिये भी कि ऐसे अनुभव और सर्वांगपूर्ण सक्रिय आत्मज्ञानकी आवश्यकता है जिसके विना इस योगको पूरा करना कठिन है। यह अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य इन सव वातोंकी एक मानसिक धारणा वना ले, मनुष्यको अनुभव हो सकता है और, यदि कोई आंतरिक दृष्टिसे सुस्पष्ट देखता है तो, लक्ष्यकी ओर आगे वढ़नेके लिये वह पर्याप्त है। फिर भी, यदि मनको स्पष्ट धारणा हो गयी हो और मानसिक कठोरता और भूल-भ्रांतिमें वह न पड़े तो योगके साधकके लिये सारी वातें अधिक आसान हो जाती हैं। परंतु नमनीयताको जरूर वनाये रखना होगा, क्योंकि नमनीयताका अभाव होनेपर व्यवस्थित वौद्धिक रचनाके लिये खतरा रहता है। मनुष्यको स्वयं वस्तुका पर्यवेक्षण करना चाहिये; विचार-भावनामें ही वंध नहीं जाना चाहिये। इन सव चीजोंमेंसे किसी भी चीजको यथार्थ आध्यात्मिक अनुभवके विना सचमुचमें हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

*

मैंने अपने लेखोंके इन अंशों और अन्य सभी अंशोंमें जीव और जीवात्मा शव्दोंका प्रयोग ठीक एक ही अर्थमें किया है — यह कभी मेरे ध्यानमें नहीं आया कि इनमें कोई भेद हो सकता है। यदि मेरा मतलव ऐसा होता तो इन दोनों शव्दोंके एक-जैसा होनेके कारण मैंने जरूर इनमें वहुत स्पष्ट रूपमें विभेद किया होता और इसे अनुमानद्वारा समझनेके लिये छोड़ न दिया होता।

अतिमानसकी त्रिविध स्थिति शीर्षक अध्यायके उद्धरणमें मैंने यह वर्णन किया है कि अतिमानसने भगवान्‌की उच्चतम संकल्प-शक्तिके रूपमें कार्य करते हुए कैसे उन्हें तीन स्थितियोंमें अभिव्यक्त किया और अतिमानसिक सृष्टिके अंदर जीवात्माकी चेतना कैसी होती

है। वहां यह बात नहीं कही गयी है कि जीवात्माका स्थान केवल अतिमानसिक लोकमें है। यदि बात ऐसी होती तो मनुष्यको अतिमानसिक लोकमें आरोहण करनेसे पहले अपने व्यक्तिगत आत्माका कोई ज्ञान नहीं हो पाता; उसे आत्माका कोई अनुभव न होता, यद्यपि उसे किसी विश्व-व्यापी वस्तुके अंदर अपने अहंके विलीन हो जानेका बोध हो पाता। परंतु मनुष्यको अतिमानसिक लोकमें आरोहण करनेसे बहुत पहले अपने अजन्मा, अविकसनशील आत्माका ज्ञान हो सकता है जो भागवत चेतनाका एक केंद्र है। अतिमानसमें पहुंचनेसे बहुत पहले वैश्व या व्यक्तिगत आत्माका अनुभव प्राप्त हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो मनोमय मनुष्यको उतने उच्च प्रकारका आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करना असंभव होगा, मुक्ति पाना असंभव होगा। उसे सबसे पहले अतिमानसिक पुरुष बनना होगा।

जहांतक पुरुषकी बात है वह सब स्तरोंपर है: एक है मनोमय पुरुष जो प्राण और शरीरका नेता है, जैसा कि उपनिषद् कहती है, एक है प्राणमय और एक है अन्नमय पुरुष; और फिर चैत्य पुरुष है जो मानो इन सबको सहारा देता तथा वहन किये रहता है। हम कह सकते हैं कि सारे पुरुष जीवात्मासे निकले हैं और इनका कार्य है सत्ताके विभिन्न स्तरोंपर प्रकृतिको अवलंब देते रहना। उपनिषद् अतिमानसिक और आनंद पुरुषकी बात भी कहती है, और, यदि पृथ्वीके क्रमविकासमें अतिमानसिक और आनंद प्रकृति भी व्यवस्थित हो जायं तो हम उन्हें भी यहांकी सारी गतिविधियोंको धारण करते हुए अनुभव करेंगे।

चैत्य पुरुषका जहांतक प्रश्न है, वह क्रमविकासमें प्रवेश करता है, जन्मके समय शरीरमें प्रवेश करता है और मृत्युके समय उससे बाहर चला जाता है; किंतु, जैसा कि मैं जानता हूं, जीवात्मा अजन्मा और शाश्वत है, हालांकि अभिव्यक्त व्यक्तित्वको वह ऊपरसे सहारा देता है। यदि चाहो तो कह सकते हो कि चैत्य पुरुष जन्ममें प्रवेश

करनेवाला जीवात्मा है, किंतु, यदि यह विभेद न किया जाय तो आत्माका स्वरूप अस्पष्ट रह जायगा और एक भ्रम उत्पन्न होगा। यह भेद तात्त्विक ज्ञानके लिये और एक ऐसी चीजके लिये बड़ा आवश्यक है जो आध्यात्मिक अनुभवकी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। आत्माको अंगरेजीमें 'स्पिरिट' शब्दकी भति सब प्रकारके अर्थों-में प्रयुक्त किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकारके ज्ञानके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने शब्दोंका व्यवहार खूब स्पष्ट तथा ठीक-ठीक अर्थमें करें ताकि जिस विचार और अनुभवको व्यक्त करनेके लिये हम शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनमें अपने शब्दोंकी गड़बड़ीके कारण कोई गड़बड़ी न आने दें।

*

जीवका अनुभव व्यक्तिगत पुरुष, आत्माके रूपमें होता है जो प्रकृतिसे ऊपर केंद्रीय पुरुष है, शांत-स्थिर, प्रकृतिकी क्रियाओंसे अस्पृष्ट है पर उनके विकासमें ग्रस्त हुए विना उसे सहारा देता है। इस अनुभवके द्वारा नीरवता, स्वतंत्रता, विशालता, प्रभुत्व, पवित्रता, व्यक्तिमें वैश्व भावका वोध मानो वह इस दिव्य वैश्व भावका एक केंद्र हो — यह सब सामान्य अनुभव बन जाता है। ....

*

अंगरेजी शब्द 'स्पिरिट' (Spirit) का अर्थ है आत्मा, ब्रह्म, तत्त्वतः भगवान्।

जब एकमेव भगवान् अपने नित्य-अंतर्निहित वहुत्वको प्रकट करते हैं तो यह तत्त्वरूप आत्मन् उस अभिव्यक्तिके लिये 'केंद्रीय पुरुष' बन जाता है और ऊपरसे ही यहां नीचे विद्यमान अपने व्यक्तित्वों तथा पार्थिव जीवनोंपर अध्यक्षता करता है, किंतु स्वयं भगवान्का एक शाश्वत अंश भी होता है और पार्थिव अभिव्यक्तिका पूर्ववर्त्ती होता है — **परा प्रकृतिर्जीवभूता**।

इस निम्न अभिव्यक्तिमें, अपरा प्रकृतिमें, भगवान्का यह शाश्वत

अंश अंतरात्माके रूपमें, दिव्य अग्निके स्फुलिंगके रूपमें प्रकट होता है, वह व्यक्तिगत क्रमविकासको, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय पुरुषको सहारा देता है। चैत्य पुरुष वही स्फुलिंग है जो वर्द्धित होकर अग्नि बन जाता है, चेतनाकी वृद्धिके साथ-साथ विकसित होता है। अतः चैत्य पुरुष विकसनशील है, वह जीवात्माकी तरह क्रम-विकासके पहलेसे ही विद्यमान नहीं रहता।

परंतु मनुष्य आत्मा या जीवात्माके प्रति सचेत नहीं होता, वह केवल अपने अहंको ही जानता है या अपने मनोमय पुरुषको जानता है जो प्राण तथा शरीरपर शासन करता है। परंतु अधिक गहराईमें जानेपर वह अपने अंतरात्मा या चैत्य पुरुषको अपने सच्चे केंद्रके रूपमें, हृदयस्थ पुरुषके रूपमें जानने लगता है। चैत्य पुरुष क्रम-विकासके अंदर अवस्थित केंद्रीय पुरुष है, वह उस जीवात्मासे निकलता और उसका प्रतिनिधित्व करता है जो कि भगवान्का सनातन अंश है। जब पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है तब जीवात्मा और चैत्य पुरुष एक साथ मिल जाते हैं।

अहंकार प्रकृतिकी एक रचना है; परंतु यह केवल भौतिक प्रकृति-की ही रचना नहीं है, इसलिये यह शरीरके साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। मानसिक और प्राणिक अहंकार भी होता है।

भौतिक चेतनाका आधार यहां केवल अज्ञान नहीं है, वरन् निश्चेतना है—अर्थात्, जड़तत्त्वके आकार और उसकी शक्तिके अंदर चेतना अंतर्निहित है। केवल स्थूल जड़-चेतना ही नहीं बल्कि प्राण-गत और मानसिक चेतना भी अज्ञानके कारण सत्यसे विच्छिन्न हो गयी है।

*

शरीर ही व्यक्तिगत आत्मा नहीं है—यह बाह्य व्यक्तित्वका या भौतिक पुरुषका आधार है, यदि इस प्रकार तुम इसे व्यक्त करना चाहो। परंतु वह व्यक्तिगत आत्मा नहीं है। व्यक्तिगत आत्मा

तो केंद्रीय पुरुष (जीवात्मा) है जो निम्न प्रकृतिमें चैत्य पुरुषके रूपमें व्यक्त होता है — यह सीधे भगवान्का एक अंश होता है।

*

जीवात्मा सभी लोकोंसे ऊपर होता है। इसका कोई सुनिश्चित रूप या रंग नहीं है; यद्यपि यह किसी आकारमें व्यक्त हो सकता है।

*

(अ) यह (एक जीवात्मा) एक होता है, फिर भी (अन्य जीवात्माओंसे) भिन्न होता है। गीता कहती है कि जीव एकमेव भगवान्का सनातन अंश है। इसका हम इस प्रकार भी वर्णन कर सकते हैं कि यह विराट् पुरुष और चेतनाके अनेक केंद्रोंमेंसे एक केंद्र होता है।

(आ) मूलतः एक जीव दूसरोंकी तरह एक ही स्वभाववाला होता है — पर अभिव्यक्तिमें प्रत्येक जीव स्वभावकी अपनी एक स्वतंत्र धारा उत्पन्न करता है।

(इ) नहीं, कूटस्थ अक्षर पुरुषको कहते हैं — वह जीवात्मा नही है।

(ई) यह (जीवात्माका स्थान) सदा आध्यात्मिक लोकमें होता है जो मनसे ऊपर है, पर वहां वह किसी एक स्तरपर स्थिर नहीं होता।

(उ) नहीं (एक चैत्य पुरुष दूसरेके साथ युक्त नहीं हो सकता)। परस्पर समानता, सामंजस्य, सहानुभूति हो सकती है, पर एकत्व नहीं। एकत्व भगवान्के साथ होता है।

*

सामान्यतया व्यष्टि-आत्माको परात्पर और विराट् आत्माका अंश कहा जाता है — चेतनाके उच्चतर और सूक्ष्मतर क्षेत्रोंमें वह अपनेको वही अनुभव करता है, पर निम्नतर में, जहां चेतना अधिका-

धिक मेघाच्छन्न होती जाती है, यह अपनेको व्यक्तित्वके ऊपरी आकारोंके साथ, प्रकृतिकी सृष्टियोंके साथ एकात्म करता जाता है और अपने दिव्य मूल स्रोतके विषयमें अनजान बन जाता है। जब मनुष्य अपने आत्माके विषयमें सज्ञान होता है तो वह एक ऐसी चीजके रूपमें अनुभूत होता है जो स्वयंभू और शाश्वत हो, जो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय व्यक्तित्वके आकारोंके साथ एकात्म न हो,—ये सब तो प्रकृतिमें विद्यमान उसकी क्षमताओंकी महज तुच्छ अभिव्यक्तियां हैं। जिसे लोग अभी अपना "मैं" समझते हैं वह तो केवल अहं होता है या मन या प्राण या शरीर, पर इसका कारण यह है कि वे प्रकृतिके बाह्य रूपोंकी दृष्टिसे विचार करते हैं, वे उनके पीछे अपनी दृष्टि नहीं ले जाते।

*

सक्रिय उपलब्धि प्राप्त करनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुषको प्रकृतिकी अधीनतासे उबारा जाय; बल्कि हमें निम्न प्रकृति और उसकी अज्ञ शक्तियोंकी क्रीड़ाके साथ पुरुषका जो संपर्क है उसे वहांसे हटाकर परमा भगवती शक्तिके साथ, भगवती माताके साथ जोड़ दिया जाय।

भगवती माताको निम्न प्रकृति तथा उसकी शक्तियोंकी यांत्रिकताके साथ एक कर देना भूल है। प्रकृति यहां केवल एक यंत्र-शक्ति है जो विकासात्मक अज्ञानकी क्रियाके लिये उत्पन्न की गयी है। जिस तरह अज्ञ मन, प्राण या शरीर स्वयं भगवान् नहीं है, यद्यपि वह आता भगवान्से ही है, उसी तरह प्रकृतिकी यांत्रिकता भी भगवती माता नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस यांत्रिकतामें और इसके पीछे उनका कुछ अंश है और विकासक्रमके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये इसे बनाये रखता है; पर वह स्वयं जो कुछ हैं वह अविद्याकी शक्ति नहीं है बल्कि वह स्वयं दिव्य चेतना, शक्ति, ज्योति

है, वह परा प्रकृति है जिसकी ओर हम मुक्ति और दिव्य संसिद्धिके लिये मुड़ते हैं।

पुरुष-चेतनाको इस प्रकार अनुभव करना कि वह स्थिर, मुक्त है, शक्तियोंकी क्रीड़ाका निरीक्षण करनेवाली पर उनमें आसक्त या अंतर्ग्रस्त नहीं है, मुक्तिका एक साधन है। अचंचल, अनासक्त, शांतिपूर्ण सामर्थ्य और हर्ष (आत्मरति) को प्राण तथा शरीर एवं मनमें भी उतार लाना चाहिये। यदि यह स्थापित हो जाय तो मनुष्य फिर प्राणिक शक्तियोंके चांचल्यका शिकार नहीं होता। परंतु यह अचंचल, शांत, नीरव शक्ति-सामर्थ्य और हर्ष वास्तवमें आधारके अंदर भगवती माताकी शक्तिका प्रथम अवतरण है। उसके परे है एक ज्ञान, एक कार्यकारी शक्ति, एक क्रियाशील आनंद जो सामान्य प्रकृतिका, जब वह अपने सर्वोत्तम रूपमें और अत्यंत सात्त्विक होती है तब भी, नहीं है बल्कि अपनी प्रकृतिमें विद्यमान स्वयं भगवान्का है।

परंतु, सबसे पहले इस अचंचलता, शांति और मुक्तिकी आवश्यकता है, सक्रिय पक्षको अत्यंत शीघ्र उतार लानेकी चेष्टा करना उचित नहीं है, क्योंकि वैसी हालतमें यह अवतरण एक ऐसी संक्षुब्ध और अपवित्र प्रकृतिमें होगा जो उसे आत्मसात् नहीं कर सकेगी और उसके फलस्वरूप गंभीर अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो सकती है।

*

जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह जगतोंकी रचना करनेवाली और चलानेवाली शक्ति या चिच्छक्तिका बाह्य या कार्यकारी पक्ष है। यह बाहरी पक्ष यहां यांत्रिक, शक्तियों, गुणों आदिकी एक क्रीड़ा प्रतीत होता है। इसके पीछे विद्यमान हैं भगवान्की जीवंत चेतना और शक्ति, भागवती शक्ति। प्रकृति दो भागोंमें विभक्त है — निम्नतर और उच्चतर; निम्नतर अज्ञानकी प्रकृति है, चेतनामें भगवान्से पृथक्कृत मन, प्राण और शरीरकी प्रकृति है; उच्चतर सच्चिदानंदकी दिव्य प्रकृति है और उसकी अभिव्यक्तिकारिणी शक्ति है अतिमानस

जो सर्वदा भगवान्से सज्ञान होता है और अज्ञान तथा उसके परिणामोंसे मुक्त होता है। जबतक मनुष्य अज्ञानमें रहता है तबतक वह निम्न प्रकृतिके अधीन होता है, पर आध्यात्मिक विकासके द्वारा वह उच्चतर प्रकृतिके विषयमें सचेतन होता है और उसके संपर्कमें आनेका प्रयत्न करता है। वह उसमें ऊपर उठ सकता है, और वह उसमें नीचे उतर सकती है — ऐसा आरोहण और अवतरण मन, प्राण और जड़तत्त्वकी निम्नतर प्रकृतिको रूपांतरित कर सकते हैं।

५

उपनिषद्‌में वर्णित मनोमय पुरुष मन-स्नायु-शरीरके सम्मिश्रणका अंग नहीं है — यह मनोमय पुरुष प्राण-शरीर-नेता है। यदि वह उस सम्मिश्रिणका भाग होता है तो उसका वर्णन ऐसा नहीं किया गया होता। और कोई सम्मिश्रण या उसका भाग पुरुष नहीं हो सकता,— क्योंकि वह सम्मिश्रण प्रकृति-भागसे बना हुआ है। उपनिषद्‌ने उसे मनोमय इसलिये कहा है कि चैत्य पुरुष पर्देके पीछे है और मनुष्य प्राण तथा शरीरमें रहनेवाला मनोमय पुरुष होनेके कारण अपने मनमें निवास करता है, अपने चैत्य पुरुषमें नहीं, इसलिये उसके लिये मनोमय पुरुष प्राण और शरीरका नेता है, — उस चैत्य पुरुषके विषयमें, जो सबको धारण करता है, वह सचेतन नहीं होता है अथवा अपने सर्वोत्तम क्षणोंमें क्षीण रूपमें ही उसके विषयमें सचेतन होता है। मनुष्यमें चैत्य पुरुषका प्रतिनिधित्व करता है प्रधान मंत्री, मनोमय पुरुष, वह स्वयं एक नम्र वैधानिक राजा बना रहता है। उस समय प्रकृति अपने कार्योंकी अनुमति मनोमयसे लेती है। परंतु, फिर भी, उपनिषद्‌का वक्तव्य वास्तविक सत्यका ऊपरी तथ्य ही बताता है, जो मनुष्यके लिये और केवल मानवीय स्तरके लिये सत्य है। पशुमें बल्कि प्राणमय पुरुष मन और शरीरका नेता होगा।

*

जिस "दुःखपूर्ण हास्यास्पद" विरोधकी बात तुम कहते हो वह इस बातसे उत्पन्न होती है कि मनुष्य एक टुकड़ेसे नहीं बना है बल्कि बहुतसे टुकड़ोंसे बना है और उसके प्रत्येक भागका एक अपना व्यक्तित्व है। यह एक ऐसी चीज है जिसका ज्ञान अभी लोगोंको पर्याप्त नहीं है — मनोवैज्ञानिकोंको उसकी झांकी मिलने लगी है,

पर वे तभी उसे जान पाते हैं जब कोई द्विविध या त्रिविध व्यक्तित्व-वाला मनुष्य उन्हें मिलता है। परंतु वास्तवमें सभी मनुष्य वैसे हैं। योगमें मनुष्यका उद्देश्य होना चाहिये (यदि अभीतक मनुष्यने ऐसा न किया हो) एक प्रबल केंद्रीय सत्ताको विकसित करना और उसीके अधीन बाकी सबको, जो कुछ परिवर्तन करने योग्य है उसका परिवर्तन करके सुसमंजस करना। यदि यह केंद्रीय सत्ता चैत्य पुरुष हो तो कोई बड़ी कठिनाई नहीं होती। यदि यह मनोमय पुरुष हो, **मनोमयः पुरुषः प्राणशरीरनेता**, तो यह अधिक कठिन होता है— जबतक कि मनोमय पुरुष यह न सीख ले कि भगवान्के महत्तर संकल्प और शक्तिके संपर्कमें रहकर बराबर उनसे कैसे सहायता ली जाती है।

*

जो अनुभव तुम्हें हो रहा है वह यौगिक चेतना और आत्मज्ञान-की प्रथम अवस्था है। साधारण मन अपनेको केवल एक अहं समझता है जिसके साथ प्रकृतिकी सभी क्रियाएं एक साथ मिलीजुली अवस्थामें रहती हैं, और इन क्रियाओंके साथ एकाकार होकर यह सोचता है कि "मैं यह कर रहा हूं, उसे अनुभव कर रहा हूं, विचार कर रहा हूं, हर्षमें हूं या शोकमें हूं इत्यादि-इत्यादि।" सच्चे आत्म-ज्ञानका प्रथम प्रारंभ तब होता है जब तुम अपनेको अपने अंदरकी प्रकृति और उसकी क्रियाओंसे पृथक् अनुभव करते हो और जब तुम यह देखते हो कि तुम्हारी सत्ताके बहुत-से भाग हैं, बहुतेरे व्यक्तित्व हैं जो स्वयं अपने तईं और स्वयं अपने ढंगसे कार्य करते हैं। दो विभिन्न चीजें जो तुम अनुभव करते हो वे हैं—एक, चैत्य पुरुष जो तुम्हें श्रीमांकी ओर खींचता है; दूसरी, बाहरी सत्ता, अधिकांशतः प्राण जो तुम्हें बाहरकी ओर और नीचे निम्न प्रकृतिकी क्रीड़ाकी ओर खींचता है। तुम्हारे अंदर मनके पीछे भी एक सत्ता है जो निरी-क्षण करती है, जो साक्षी पुरुष है, जो प्रकृतिकी क्रीड़ासे अनासक्त

रह सकता, उसे देख सकता और चुनाव कर सकता है। इसे सर्वदा चैत्य पुरुषके पक्षमें अपनेको रखना होगा, उसकी क्रियाको स्वीकृति एवं अवलंब देना होगा और निम्न प्रकृतिकी निम्नमुखी और वहिर्मुखी क्रियाका त्याग करना होगा, निम्न प्रकृतिको उसे चैत्य पुरुषकी अधीनतामें लाना होगा तथा उसके प्रभावके द्वारा उसे परिवर्तित करना होगा।

*

जिस अवस्थाका वर्णन तुम करते हो उससे यह पाठ नहीं मिलता कि योग नहीं करना चाहिये, बल्कि यह मिलता है कि तुम्हें सत्ताके दोनों भागोंके बीचकी दरार धीरे-धीरे भरते हुए आगे बढ़ना चाहिये। यह विभाजन एक सर्वसामान्य वस्तु है, मनुष्य स्वभावके लिये प्रायः सार्वभौम वस्तु है, और लगभग प्रत्येक व्यक्तिके साथ ऐसा घटित होता है कि उच्चतर भागोंमें विपरीत संकल्प होनेपर भी निम्न आवेगका ही वह अनुगमन करता है। इस क्रियापर अर्जुनका भी ध्यान गया था और उसने श्रीकृष्णसे यह प्रश्न किया था : "मनुष्य इच्छा न होनेपर भी बुरी बातें क्यों करता है, मानो कोई शक्ति उससे जबर्दस्ती करा लेती हो ?" और होरेसने भी सारगर्भित रूपमें व्यक्त किया है — "मैं उत्तमको देखता और उसका समर्थन करता हूं, मैं निकृष्टका अनुसरण करता हूं।" निरंतर अभ्यास और अभीप्साके द्वारा मनुष्य एक ऐसे मोड़पर पहुंच सकता है जहां चैत्य पुरुष दृढ़तापूर्वक जम जाता है और जो चीज वहां बहुत मामूली मनोवैज्ञानिक परिवर्तन प्रतीत होती है वह प्रकृतिके सारे संतुलनको ही पलट देती है।

*

तुम बाहरी जाग्रत् चेतनाको इस रूपमें लेते हो मानो वही सच्ची सत्ता या व्यक्ति हो और यह निष्कर्ष निकालते हो कि यदि यह चीज नहीं वरन् कोई दूसरी चीज अनुभूति प्राप्त करती है या अनुभूतिमें निवास करती है तो फिर किसीको अनुभूति नहीं होती — क्योंकि,

जाग्रत् चेतनाके सिवा यहां और कोई चेतना है ही नहीं। यही वह भूल है जिससे अज्ञान टिका रहता है और उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। अज्ञानसे बाहर निकलनेका एकदम पहला कदम यही है कि इस तथ्यको स्वीकार किया जाय कि यह बाह्य चेतना मनुष्यका आत्मा नहीं है, स्वयं मनुष्य नहीं है, सच्चा व्यक्ति नहीं है बल्कि ऊपरी क्रीड़ाके उद्देश्यसे ऊपरी सतहपर बनी हुई एक क्षणिक रचना है। अंतरात्मा, व्यक्ति भीतर अवस्थित है, ऊपरी सतहपर नहीं है— बाह्य व्यक्तित्व तो महज वह व्यक्ति है जिसे लैटिन भाषामें छद्मवेश कहते हैं।

*

चैत्य पुरुषको वह पद प्राप्त है जिसकी चर्चा तुम करते हो, क्योंकि चैत्य पुरुष ही निम्न प्रकृतिके अंदर भगवान्के साथ संपर्क बनाये रखता है। परंतु आंतर मन, प्राण और शरीर वैश्व चेतनाके अंग हैं और द्वैतोंकी ओर खुले हुए हैं—बस, वे बाहरी मन, प्राण और शरीरसे अधिक विशाल हैं तथा दिव्य प्रभावको अधिक परिमाण-में तथा अधिक आसानीसे ग्रहण कर सकते हैं।

*

अंतरात्मा शब्द बहुत अस्पष्ट रूपमें, अंगरेजी शब्द 'सोल' (soul) की तरह, व्यवहृत होता है— उस तरह व्यवहृत होनेपर उसमें आंत-रिक सत्ता, आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और आंतरिक शरीरतक सब कुछ आ जाता है, और साथ-ही-साथ अंतरतम पुरुष, चैत्य पुरुष भी आ जाता है।

*

अधिकांशतः यूरोपीय मन कभी आत्मा+शरीरके सिद्धांतके परे नहीं जा सका है—सामान्यतया मनको आत्मा (soul) में जोड़ देता है और शरीरके सिवा बाकी सब कुछको मनमें सम्मिलित कर देता है। कुछ गुह्यविद्गण आत्मा, अंतरात्मा और शरीरमें विभेद

करते हैं। फिर कुछ ऐसी अस्पष्ट भावना भी जरूर विद्यमान है कि आत्मा और मन बिलकुल एक वस्तु नहीं हैं, क्योंकि यह वाक्य प्रयुक्त होता है कि "इस आदमीमें आत्मा नहीं है", अथवा "उसमें आत्मा है", जिसका अर्थ होता है कि उसमें ऐसी कोई चीज है जो महज मन और शरीरके परेकी है। परंतु यह सब बहुत अस्पष्ट है। वहां मन और आत्मामें स्पष्ट भेद नहीं किया गया है तथा मन और प्राण-में भी कोई भेद नहीं किया गया है और प्रायः प्राणको ही आत्मा समझा जाता है।

६

आंतरिक चेतनाका अर्थ है आंतर मन, आंतर प्राण, आंतर शरीर और उनके पीछे विद्यमान चैत्य पुरुष जो उन सबका अंतरतम पुरुष है। पर आंतर मन उच्चतर मन नहीं है; यह बाह्य या उपरितलीय मनकी अपेक्षा कहीं अधिक वैश्व शक्तियोंके संपर्कमें रहता है, उच्चतर चेतनाकी ओर खुला होता है तथा कर्मके एक अतिगभीर और अति-विशाल क्षेत्रको अधिकृत करनेमें समर्थ होता है। पर यह मूलतः उसी स्वभावका होता है। उच्चतर चेतना सामान्य मनसे ऊपर है और अपनी क्रियामें उससे भिन्न है; इसका क्षेत्र उच्चतर मनसे आरंभ होता है और ज्योतिर्मय मन, संबोधि और अधिमानससे होता हुआ अतिमानसकी सीमा-रेखातक चला जाता है।.........

*

मनुष्यमें उसकी समस्त प्राणिक प्रकृतिके पीछे छिपा हुआ और अचल उसका सच्चा प्राण-पुरुष विद्यमान है जो ऊपरी प्राणिक प्रकृति-से एकदम भिन्न है। ऊपरी प्राण संकीर्ण, अज्ञ, सीमित तथा अंध-कारपूर्ण कामनाओं, आवेगों, लालसाओं, विद्रोहों, दुःख-सुखों, क्षणिक हर्ष और शोकों एवं उल्लासों और विषादोंसे भरा है। इसके विप-रीत, सच्चा प्राण-पुरुष विस्तीर्ण, विशाल, स्थिर, सबल, सीमाओंसे रहित, सुदृढ़ और अचलायमान तथा सर्वशक्ति, सर्वज्ञान और सर्व-आनंद प्राप्त करनेमें सक्षम है। अधिकंतु, यह अहंसे रहित है, क्यों-कि यह जानता है कि यह भगवान्से निकला हुआ और उनका यंत्र है। यह दिव्य योद्धा है, पवित्र और पूर्ण है। इसमें सभी भागवत सिद्धियोंको लानेवाली एक करण-रूप शक्ति है। यही सच्चा प्राण-पुरुष तुम्हारे अंदर जाग्रत् हो गया तथा सामने आ गया है। इसी

तरह एक सच्चा मनोमय पुरुष भी है, एक सच्चा अन्नमय पुरुष भी है। जब वे व्यक्त होते हैं तो तुम अपने अंदर दो सत्ताओंको अनुभव करते हो: पीछेकी वह सत्ता सदा अचल-अटल और प्रबल होती है, ऊपरी तलकी सत्ता ही केवल विक्षुब्ध और तमसाच्छन्न होती है। परंतु पीछेकी सच्ची सत्ता यदि स्थायी हो और तुम उसमें निवास करो तो विक्षोभ और अंधकार केवल ऊपरी भागमें ही रह जाते हैं; इस अवस्थामें बाह्य भागोंमें अधिक शक्तिमत्ताके साथ कार्य किया जा सकता और उन्हें भी मुक्त और पूर्ण बनाया जा सकता है।

*

बाहरी चेतना देहकी सीमामें और देहपर आश्रित व्यक्तिगत मन और इंद्रियके तुच्छ अंशोंमें आबद्ध है — वह केवल बाहरको, केवल वस्तुओंको देखती है। परंतु भीतरी चेतना वस्तुओंके पीछे देख सकती है, वह, शक्तियोंकी, चाहे वे व्यक्तिगत हों या विश्वगत, क्रीड़ासे अवगत होती है — क्योंकि वह विश्वव्यापी कर्मके साथ सचेतन संपर्क बनाये रखती है।

*

हमारी आंतरिक सत्ता वैश्व मन, प्राण और जड़तत्त्वके संपर्कमें रहती है, यह उन सबका एक अंग है, परंतु इसी तथ्यके कारण, यह मुक्ति और शांतिको हस्तगत नहीं कर सकती। तुम संभवतः आत्माकी बात कर रहे हो और उसे आंतरिक सत्ताके साथ उलझा रहे हो।

*

प्रत्येक व्यक्तिके आंतरिक भाग या तो अज्ञानकी बाहरी शक्तियोंकी ओर मुड़ होते हैं अथवा ऊपरकी उच्चतर शक्तियों तथा चैत्य पुरुषकी आंतर प्रेरणाकी ओर मुड़े होते हैं और उसीके अनुरूप या तो वे ओछे बने रहते हैं अथवा ऊंचे उठ जाते हैं। सभी शक्तियां वहां क्रीड़ा कर सकती हैं। बाहरी सत्ता ही ऐसी है जो एक विशेष स्वभाव, विशेष प्रवृत्ति, विशेष गतिविधिमें अचल होती है।

७

व्यक्ति भौतिक शरीरसे सीमित नहीं है—केवल बाहरी चेतना ही ऐसा अनुभव करती है। जैसे ही मनुष्य इस सीमाबंधनकी भावनासे परे चला जाता है, वह पहले आंतर चेतनाको अनुभव कर सकता है जो शरीरके साथ संबद्ध है, पर इससे संबंधित नहीं है, उसके बाद शरीरसे ऊपरके चेतनाके स्तरोंको अनुभव कर सकता है, साथ ही शरीरके चारों ओर विद्यमान चेतनाको भी अनुभव कर सकता है पर उसे अपने अंगके रूपमें, व्यक्तिगत सत्ताके भागके रूपमें अनुभव कर सकता है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व-शक्तियों तथा अन्य सत्ताओंके साथ संपर्क स्थापित करता है। अंतिम चीज वह है जिसे मैंने पारिपार्श्विक चेतनाका नाम दिया है।

८

व्यक्तिकी चेतना बाहरकी ओर विश्व-चेतनामें विस्तारित होती है और उसके साथ किसी भी प्रकारका व्यवहार कर सकती है, उसमें घुस सकती, उसकी क्रियाओंको जान सकती, उसपर क्रिया कर सकती या उससे ग्रहण कर सकती है, यहांतक कि उसके समान बन सकती या उसे धारण कर सकती है, और पुराने योगोंकी भाषामें जो अपने अंदर ब्रह्मांडको लेनेकी बात कही जाती थी उसका अर्थ यही है। विश्व-चेतना विश्वकी चेतनाको, विश्वात्माकी चेतनाको और विश्व-प्रकृति तथा उसमें विद्यमान सभी सत्ताओं और शक्तियोंकी सम्मिलित

चेतनाको कहते हैं। यह सब कुछ संपूर्ण रूपमें उतना ही चेतन है जितना कि व्यक्ति पृथक् रूपसे है, यद्यपि है एक भिन्न ढंगसे। व्यक्तिकी चेतना उसका अंश है, पर ऐसा अंश है जो अपनेको एक पृथक् सत्ता अनुभव करता है। फिर भी, व्यक्ति जो कुछ है उसका अधिकांश सब समय विश्व-चेतनासे ही उसमें आता है। परंतु दोनोंके बीच पृथक्कारी अज्ञानकी एक दीवार है। एक बार जब वह दीवार भंग हो जाती है तो व्यक्ति विश्वात्माके विषयमें, विश्व-प्रकृतिकी चेतनाके विषयमें, उसमें क्रिया करनेवाली शक्तियोंके विषयमें सचेतन हो जाता है। उन सब चीजोंको वह वैसे ही अनुभव करता है जैसे वह अभी भौतिक वस्तुओंको अनुभव करता और स्थिर करता है। वह इस सबको अपने वृहत्तर या विराट् आत्माके साथ एक अनुभव करता है।

फिर वैश्व मन, वैश्व प्राण और वैश्व भौतिक प्रकृति भी है और इन्हींकी शक्तियों और क्रियाओंमेंसे चुनाव करके व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर बनते हैं। अंतरात्मा मन-प्राण-शरीरकी इस प्रकृतिके परे-से आता है। उसका संबंध परात्परके साथ है और इसी कारण हम परेकी उच्चतर प्रकृतिकी ओर अपनेको खोल सकते हैं।

*

१. आध्यात्मिक चेतना वह है जिसमें जानेपर हम आत्मा, ब्रह्म, भगवान्का ज्ञान प्राप्त करते हैं और सभी वस्तुओंमें उनके मूल सत्य-को तथा उस मूल सत्यसे निकलनेवाली शक्तियों और क्रियाओंकी लीलाको देख पाते हैं।

२. वैश्व चेतना वह है जिसमें अहं, व्यक्तिगत मन और शरीरकी सीमाएं विलीन हो जाती हैं और मनुष्य एक विराट् विशालताके विषयमें सचेतन होता है जो विश्वात्मा है या उससे भरी हुई है तथा वैश्व शक्तियों, विश्वमानसकी शक्तियों, विश्वप्राणकी शक्तियों, जड़-तत्त्वकी विश्वव्यापी शक्तियों एवं विश्वव्यापी अधिमानस-शक्तियोंकी

प्रत्यक्ष क्रीड़ाके विषयमें भी अवगत हो जाता है। परंतु मनुष्य सबके विषयमें एक साथ ही सज्ञान नहीं हो जाता; वैश्व चेतनाका उद्-घाटन सामान्यतया धीरे-धीरे होता है। यह बात नहीं कि अहं, शरीर तथा व्यक्तिगत मन विलीन हो जाते हैं, बल्कि मनुष्य उन्हें केवल अपना एक छोटा-सा भाग अनुभव करता है।.... मनुष्य एक विभिन्न प्रकारके अनुभवके द्वारा वस्तुओंको, अधिक प्रत्यक्ष रूपमें तथा बाह्य मन और इंद्रियोंपर आश्रित हुए बिना, जानना आरंभ करता है। ऐसी बात नहीं है कि भूल-भ्रांतिकी संभावना दूर हो जाती है, क्योंकि ऐसा तबतक नहीं हो सकता जबतक कि किसी प्रकारका मन ही ज्ञानको व्यक्त करनेका मनुष्यका यंत्र है, परंतु उस समय वस्तुओं-को अनुभव करने, देखने, जानने और उनके साथ संपर्क स्थापित करने-की एक नवीन, विशाल और गभीर प्रणाली प्राप्त हो जाती है। विश्व-चेतनामें बस एक ही चीजसे मनुष्यको बचनेकी सावधानी बर्तनी चाहिये और वह है अतिरंजित अहंकी क्रीड़ा, विरोधी शक्तियोंके विशालतर आक्रमण — क्योंकि वे भी वैश्व चेतनाके अंग हैं — और फिर वैश्व सत्यमें अंतरात्माकी वृद्धि रोकनेके लिये वैश्व माया-शक्ति (अज्ञान, अविद्या) का प्रयास। ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें मनुष्यको अनुभवसे सीखना होता है; बौद्धिक शिक्षण या विवेचन बिलकुल पर्याप्त नहीं होता। विश्व-चेतनामें सुरक्षित रूपमें प्रवेश करने तथा उसे सुरक्षित रूपमें पार करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यमें खूब प्रबल केंद्रीय अहंशून्य सच्चाई हो तथा चैत्य पुरुष सत्य-संबंधी अपने सच्चे अनुमान तथा भगवान्‌की ओर ले जानेवाले निर्भूल दिशा-ज्ञानके साथ प्रकृतिके पुरोभागमें पहलेसे अवस्थित हो।

३. सामान्य चेतना वह है जिसमें मनुष्य वस्तुओंको एकमात्र या प्रधानतया बुद्धिसे, बाहरी मन और इंद्रियोंसे जानता है और शक्तियों आदिको केवल उनकी बाहरी अभिव्यक्ति और परिणामके द्वारा तथा शेष चीजोंको इनके द्वारा प्राप्त तथ्योंके आधारपर अनुमान करके

जानता है। इस चेतनामें कभी-कभी मानसिक अंतर्ज्ञान, गभीरतर चैत्य दृष्टि या प्रेरणाओं, आध्यात्मिक सूचनाओंकी क्रीड़ा हो सकती है—पर साधारण चेतनामें ये सब केवल आकस्मिक होते हैं और उसके मौलिक स्वभावमें कोई परिवर्तन नहीं ले आते।

*

प्रकृतिका अर्थ है विश्वव्यापी प्रकृति। विश्व-प्रकृति जब प्राण[1]-सत्तामें प्रवेश करती है तो वह कामनाकी सृष्टि करती है जो अपनी अभ्यासगत प्रतिक्रियाके कारण व्यक्तिगत प्रकृति प्रतीत होती है। परंतु जिन अभ्यासगत कामनाओंको वह फेंकती है उन्हें यदि त्याग दिया जाय और दूर फेंक दिया जाय तो सत्ता बनी रहती है पर प्राणिक कामनाकी पुरानी व्यक्तिगत प्रकृति अब नहीं होती—निम्नतर प्रकृतिके नहीं बल्कि ऊपरके सत्यके प्रत्युत्तरमें, एक नवीन प्रकृति निर्मित हो जाती है।

---

[1]प्राणसंबंधी अधिकांश बातें हमारी पुस्तक 'प्राण और उसका रूपांतर' भाग १, २ में आ गयी हैं।—सं०

१

शब्दके साधारण व्यवहारके अंदर "मन" बिना किसी विचारके समूची चेतनाको अंतर्निहित करता है, क्योंकि मनुष्य मनोमय पुरुष है और प्रत्येक चीजको मनकी भाषामें ढाल देता है; परंतु इस योग-की भाषामें "मन" और "मनोमय" विशेषकर प्रकृतिके उस भागको सूचित करनेके लिये व्यवहृत होते हैं जो समझ और बुद्धिवृत्तिके साथ, भावनाओंके साथ, मानसिक या चिंतनपरक अनुभवोंके साथ, वस्तुओं-के प्रति विचारकी प्रतिक्रियाके साथ, सच्ची मानसिक क्रियाओं और रचनाओं, मानसिक दृष्टि और संकल्प आदिके साथ जो उसकी बुद्धि-के अंग हैं, संबंध रखता है।....चेतनाके ऊपरी सतहपर मन और प्राणको मिलाजुला दिया जाता है, पर वे अपने-आपमें बिलकुल अलग-अलग शक्तियां हैं और ज्यों ही मनुष्य सामान्य ऊपरी चेतनाके पीछे जाता है वह उन्हें पृथक् देखता है, उनके भेदको जान जाता है और इस ज्ञानकी सहायतासे उनके उपरितलीय मिश्रणका विश्लेषण कर सकता है। यह बिलकुल संभव है और यहांतक कि सामान्य बात है कि देरसे हो या सवेर, कभी-कभी बहुत दीर्घकालमें, मन तो भग-वान्को या यौगिक आदर्शको स्वीकार कर लेता है पर प्राण न समझता है और न समर्पण करता है तथा सामान्य जीवनमें ही कामना, आवेग और आकर्षणके पथपर आग्रहपूर्वक चलता रहता है। उनका विभाजन या उनका संघर्ष ही साधनाकी अधिकांश अधिक तीव्र कठि-नाइयोंका कारण होता है।

*

जब मन भगवान् और सत्यकी ओर मुड़ जाता है और केवल या मुख्यतया उसीको अनुभव करता और प्रत्युत्तर देता है तो उसे

चैत्य मन कहते हैं — यह कभी-कभी मानसिक स्तरपर चैत्य पुरुषका प्रभाव पड़नेपर निर्मित होता है ।

*

चैत्य मन और मनोमय चैत्य वस्तुतः एक ही चीज हैं — जब मनकी क्रिया ऐसी होती है जिसमें चैत्य प्रभावकी प्रधानता होती है तो उसे मनमें चैत्य या चैत्य मन कहते हैं।

*

आध्यात्मिक मन वह मन है जो अपनी पूर्णावस्थामें आत्मासे सज्ञान होता है, भगवच्चिंतन करता है, आत्माके स्वभाव तथा अभिव्यक्तिके साथ उसके संबंधोंको देखता और समझता है, उसीमें या उसके संपर्कमें, स्थिर, विस्तारित और उच्चतर ज्ञानके प्रति जागृत रहता है, शक्तियोंकी क्रीड़ासे विक्षुब्ध नहीं होता। जब यह अपनी पूर्ण मुक्त प्रवृत्तिको पा जाता है तो इसका केंद्रीय स्थान प्रायः बराबर सिरके ऊपर अनुभूत होता है, यद्यपि इसका प्रभाव नीचेकी ओर समस्त सत्तामें और बाहरकी ओर दूरतक फैल सकता है।

*

उच्चतर मन आध्यात्मिक मनका एक स्तर है, मनके स्तरोंमेंसे सबसे पहला और सबसे निचला स्तर; यह साधारण मानसिक स्तरसे ऊपर है।

आंतर मन वह मन है जो ऊपरी मनके पीछे है और केवल साधनाके द्वारा, ऊपरी सतहपर रहनेकी आदत छोड़ देने और भीतर गहराईमें पैठ जानेपर प्रत्यक्ष अनुभूत हो सकता है (ऊपरी मनपर उसकी वृत्तियां कभी-कभी अनुभूत होती हैं, जैसे, दर्शन, कविता, आदर्शवाद आदि)।

वृहत्तर मन एक सामान्य शब्द है जो मनके उन प्रदेशोंको अंतर्भुक्त करता है जो चाहे भीतर जाने या वैश्व चेतनामें विस्तारित होनेपर हमारे क्षेत्र बनते हैं।

सच्चा मनोमय पुरुष ठीक वही नहीं है जिसे आंतर मन कहते हैं — सच्चा मन, सच्चा प्राण, सच्ची भौतिक सत्ताका अर्थ है उन-उन क्षेत्रोंका पुरुष जो निम्न प्रकृतिकी भूल-भ्रांतियों तथा अज्ञानपूर्ण चिंतन और संकल्पसे मुक्त है तथा सीधे ऊपरसे आनेवाले ज्ञान एवं पथप्रदर्शनकी ओर खुला हुआ है।

*

यहां जो कुछ यथार्थतः पृथ्वी-लोकसे संबंधित है वह निश्चेतनासे, जड़तत्त्वसे विकसित हुआ है — पर मूल मनोमय सत्ता पहलेसे मनोमय लोकमें विद्यमान है, वह निर्वातित नहीं है। केवल व्यक्तिगत मन ही वास्तवमें यहां निश्चेतनामेंसे किसी चीजके बाहर निकलनेसे विकसित हुआ है और ऊपरके दबावसे विकसित हो रहा है।

पूछताछ करने और जाननेकी प्रवृत्ति स्वयं अपने-आपमें अच्छी है, पर इसे संयमके अधीन रखना होगा। साधनामें प्रगति करनेके लिये जो आवश्यक है वह चेतना और अनुभवको तथा अंतःप्रेरणात्मक ज्ञानको बढ़ानेसे सर्वोत्तम रूपमें प्राप्त होता है।

मस्तकसे ऊपर वैश्व या भागवत चेतना और शक्ति है। कुंडलिनी वह निगूढ़ शक्ति है जो चक्रोंमें सोयी हुई है।

*

यथार्थ मन तीन भागोंमें विभक्त है — चिंतनशील मन, क्रियाशील मन, बाह्य रूप देनेवाला मन — पहला भावनाओं और ज्ञानसे, उनके यथार्थ स्वरूपमें, संबंधित होता है; दूसरा भावनाकी सिद्धिके लिये मानसिक शक्तियोंका प्रयोग करनेसे मतलब रखता है; और तीसरा जीवनमें उनकी अभिव्यक्तिसे (केवल वाणीद्वारा नहीं, बल्कि जो भी रूप वह दे सके उससे) सरोकार रखता है। "भौतिक मन" थोड़ा अस्पष्ट है, क्योंकि इसका अर्थ यह बाह्य रूप देनेवाला मन तथा भौतिक सत्तामें विद्यमान मन दोनों एक साथ हो सकता है।

*

असली प्राणिक मन प्राणिक आवेग, कामना, प्रवेग इत्यादि तथा असली मनके बीचका एक प्रकारका मध्यस्थ है। यह कामनाओं, हृद्गत अनुभवों, आवेगों, भावावेगों, महत्त्वाकांक्षाओं, प्राणकी स्वत्वात्मक और सक्रिय प्रवृत्तियोंको व्यक्त करता है और उन्हें मानसिक रूपोंमें प्रक्षिप्त करता है (विशुद्ध कल्पनाएं अथवा महानता, प्रसन्नता आदिके स्वप्न, जिनमें मनुष्य संलग्न होते हैं, प्राणिक मनकी क्रियाका एक खास रूप हैं)।

प्राणमें मनकी एक इससे भी निम्नतर अवस्था है जो महज प्राणिक तत्त्वको ही बुद्धिकी किसी भी क्रीड़ाके अधीन किये बिना व्यक्त करती है। इसी मानस-प्राणके द्वारा प्राणिक आवेग-प्रवेग, कामनाएं, ऊपर उठती हैं तथा बुद्धिमें घुसकर उसे मेघाच्छन्न या विकृत कर देती हैं।

*

जिस तरह प्राणिक मन वस्तुसंबंधी प्राणिक दृष्टि और अनुभवसे सीमित है (सक्रिय बुद्धि नहीं होती, क्योंकि वह विचार और मुक्तिके द्वारा कार्य करती है), वैसे ही शरीरगत मन या मनोमय भौतिक वस्तुसंबंधी भौतिक दृष्टि और अनुभवसे सीमित होता है; बाहरी जीवन और वस्तुओंके संपर्कके कारण जो अनुभव प्राप्त होता है उसे वह मानसिक रूप दे देता है और उससे परे नहीं जाता (यद्यपि वह उसे बहुत अधिक चतुराईके साथ कर सकता है), जब कि बाह्य रूप देनेवाला मन ऐसा नहीं करता, वह उनके साथ कहीं अधिक युक्तिके साथ तथा अपनी उच्चतर बुद्धिवृत्तिके साथ व्यवहार करता है। परंतु व्यवहारमें ये दोनों प्रायः एक साथ मिलजुल जाते हैं।

यांत्रिक मन मनोमय भौतिककी बहुत निम्न क्रिया है; यदि उसे अकेला छोड़ दिया जाय तो वह केवल अभ्यासगत विचारोंको ही दुहराता रहेगा तथा बाह्य जीवन और वस्तुओंके संस्पर्शके प्रति भौतिक चेतनाकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओंको अंकित करेगा।

*

यथार्थ चिंतनशील मनका संबंध भौतिकसे नहीं है, यह एक पृथक् शक्ति है। मनके उस भागको भौतिक मन कहते हैं जिसका संबंध केवल भौतिक वस्तुओंके साथ होता है — यह इंद्रिय-मनपर निर्भर करता है, केवल वस्तुओंको, बाहरी क्रियाओंको देखता है, बाह्य वस्तुओं-द्वारा प्राप्त तथ्योंसे अपने विचार बनाता है, उनके आधारपर केवल अनुमान करता है और जबतक ऊपरसे प्रकाश नहीं पाता तबतक कोई दूसरा यथार्थ सत्य नहीं जान पाता।

१०

हृदयसे ऊपर प्राणिक मन है, पर संवेदनोंका उठना भावावेगसे निम्नतर क्रिया है, उच्चतर नहीं।

संवेदन भावावेगकी अपेक्षा कहीं अधिक भौतिकके समीप है।

कामनाका स्थान हृदयसे नीचे केंद्रीय प्राण (नाभि-केंद्र) में तथा निम्नतर प्राणमें है, पर यह भावावेग तथा प्राणिक मनको भी प्रचालित करता है।

*

चित्त हृदयके समीप नहीं है — यदि तुम्हारा मतलब निम्नतर चेतनाके उपादानसे हो तो इसका कोई खास स्थान नहीं है। इस जीवनकी सभी वस्तुएं चेतनाके इस उपादान तत्त्वमें विद्यमान हैं पर पूर्वजीवनोंकी स्मृति अन्यत्र आवृत्त और अंतर्निहित है। निस्संदेह, अधिकांश मनुष्योंके लिये इस चेतनाका मुख्य केंद्र हृदय है, अतएव तुम इसकी क्रियाओंको उस स्तरमें केंद्रित अनुभव कर सकते हो।

*

वास्तवमें चित्तका अर्थ है सामान्य चेतना जिसमें मन, प्राण और भौतिक सम्मिलित हैं — पर व्यावहारिक रूपमें इसका अर्थ एक ऐसी चीज मान सकते हैं जो चेतनाके केंद्रमें है। यदि वह भगवान्‌में केंद्रित हो तो बाकी सब कुछ, कम या अधिक तेजीसे, स्वाभाविक परिणामके रूपमें आता है।

११

हमारी सत्ताके प्रत्येक स्तर — मानसिक, प्राणिक, भौतिक — की एक अपनी चेतना है, पृथक्-पृथक् है पर परस्पर संवद्ध है और एक-दूसरीपर क्रिया करती है। परंतु हमारे बाहरी मन और इंद्रियके लिये, हमारे जाग्रत् अनुभवमें, वे सभी चेतनाएं एक-दूसरीके साथ मिलीजुली हैं। उदाहरणार्थ, शरीरकी एक अपनी चेतना है और उसीसे वह कार्य करता है, हमारे मानसिक संकल्पके बिना भी या उस संकल्पके विरुद्ध भी कार्य करता है, और हमारा ऊपरी मन इस शरीर-चेतनाके विषयमें बहुत कम जानता है, केवल अपूर्ण रूपमें ही उसे अनुभव करता है, केवल उसके परिणामोंको ही देखता है और उनके कारणोंका पता लगानेमें बहुत अधिक कठिनाइयां झेलता है। योगका यह एक अंग है कि शरीरकी इस पृथक् चेतनाका ज्ञान प्राप्त किया जाय, इसकी गतियोंको तथा भीतरसे या बाहरसे इसपर कार्य करनेवाली शक्तियोंको देखा और अनुभव किया जाय एवं इसकी अत्यंत गुह्य और (हमारे लिये) अवचेतन प्रक्रियाओंको संयमित और परिचालित करना सीखा जाय। परंतु स्वयं शारीर चेतना हमारे अंदरकी उस व्यक्तिभावापन्न और भौतिक चेतनाका केवल एक अंश है जिसे हम विराट् भौतिक प्रकृतिकी गुह्यतः सचेतन शक्तियोंमेंसे एकत्र करते और निर्मित करते हैं।

प्रकृतिकी एक विराट् भौतिक चेतना है और हमारी अपनी भौतिक चेतना भी है जो उसक एक अंश है, उससे परिचालित होती है और जिसे केंद्रीय पुरुष इस भौतिक जगत्में अपनी अभिव्यक्तिके आधारके रूपमें तथा इन सब वाह्य वस्तुओं, गतिविधियों तथा शक्तियोंके साथ सीधे व्यवहार करनेके माध्यमके रूपमें व्यवहृत करता है। यह

भौतिक चेतना-स्तर दूसरे लोकोंकी शक्तियों और प्रभावोंको ग्रहण करता है और अपने निजी क्षेत्रोंमें उनका रूप निर्माण करता है। इसलिये हममें एक भौतिक मन है, फिर प्राणिक मन है और यथार्थ मन है; हमारे अंदर हमारा एक प्राणिक-भौतिक अंग है — स्नायु-पुरुष — साथ ही यथार्थ प्राण है; और ये दोनों उस स्थूल जड़ भौतिक अंगके द्वारा बहुत अधिक मात्रामें सीमित होते हैं जो हमारे अनुभवके अनुसार लगभग पूर्ण रूपसे अवचेतन है।

भौतिक मन वह मन है जो भौतिक वस्तुओं और घटनाओंपर एकाग्र होता है, केवल इन्हें ही देखता और समझता है, तथा उन्हींके साथ उनके अपने स्वभावके अनुसार बर्ताव करता है, पर जो बड़ी कठिनाईसे उच्चतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर दे सकता है। यदि उसे यों ही छोड़ दिया जाय तो वह अतिभौतिक वस्तुओंके अस्तित्वपर विश्वास नहीं करता जिसका उसे कोई सीधा अनुभव नहीं होता और जिसका उसे कोई अता-पता नहीं मिलता; जब उसे आध्यात्मिक अनुभव होता भी है तो वह उन्हें भूल जाता है, उनके प्रभाव और परिणामको खो देता है तथा उनपर विश्वास करना कठिन अनुभव करता है। इस भौतिक मनको उच्चतर आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक लोकोंकी चेतनासे ज्योतित करना इस योगका एक उद्देश्य है, ठीक जिस तरह कि इसे सत्ताके उच्चतर प्राणिक और उच्चतर मानसिक तत्त्वोंकी शक्तिसे आलोकित करना मानवीय आत्मविकास, सभ्यता और संस्कृतिका सबसे बड़ा भाग है।

दूसरी ओर, प्राणिक-भौतिक अंग हमारी भौतिक प्रकृतिके स्नायविक प्रत्युत्तरोंका वाहन है; यह तुच्छतर संवेदनों, कामनाओं, बाह्य भौतिक और स्थूल जड़ाश्रित जीवनके संघातोंके प्रति सभी प्रकारके प्रत्युत्तरोंका क्षेत्र और यंत्र है। अतएव यह प्राणिक-भौतिक अंश (यथार्थ प्राणके निम्नतम भागसे पोषित) हमारे बाह्य प्राणकी अधिकांश निम्नतर क्रियाओंका कार्यकर्त्ता है; इसकी अभ्यासगत प्रतिक्रियाएं

और हठी तुच्छताएं योगके द्वारा वाह्य चेतनाका रूपांतर करनेके मार्गकी प्रमुख बाधाएं हैं। यह मन या शरीरके उन अधिकांश दुःख-क्लेशों और बीमारियोंके लिये भी बहुत अधिक जिम्मेदार है जिनके अधीन प्रकृतिमें हमारी भौतिक सत्ता है।

स्थूल जड़ भागका जहांतक प्रश्न है, उसका स्थान बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह बहुत स्पष्ट है; पर यह याद रखना चाहिये कि इसकी भी एक अपनी चेतना है, अंग-प्रत्यंगों, कोषों, तंतुओं, गुत्थियों और इंद्रियोंकी अपनी अंध चेतना है। इस अंध-कारको आलोकित करना और सीधे उच्चतर लोकों तथा दिव्य क्रियाओंका माध्यम बनाना हमारे योगमें शरीरको सचेतन बनाना है,—अर्थात्, इसकी तमसाच्छन्न, सीमित अर्ध-अवचेतन स्थितिके बदले इसे सच्ची, जाग्रत् और प्रत्युत्तरदायी सचेतनासे भर देना।

हमारी सत्तामें सर्वत्र, इसके सभी स्तरोंपर, आंतरिक और बाह्य चेतना है। साधारण मनुष्य केवल अपने बाहरी स्वरूपको ही जानता है और ऊपरी तलसे नीचे जो कुछ छिपा हुआ है उससे बिलकुल अनभिज्ञ होता है। और, फिर भी जो कुछ ऊपरी सतहपर है, जो कुछ हम अपने विषयमें जानते हैं या समझते हैं कि हम जानते हैं और यहांतक कि हम विश्वास करते हैं कि वही हमारा सारा स्वरूप है, वह हमारी सत्ताका बस एक छोटा-सा भाग और काफी मात्रामें हमारा बृहत्तर अंश उपरितलसे नीचे है। अथवा, अधिक सही रूपमें कहें तो, वह सम्मुखीन चेतनासे नीचे, पर्देके पीछे, गुह्य है तथा केवल एक गुह्य ज्ञानद्वारा ही ज्ञेय है। आधुनिक मनोविज्ञान और आत्मविद्याने बस थोड़ा-थोड़ा इस सत्यको देखना आरंभ किया है। जड़वादी मनोविज्ञान इस प्रच्छन्न भागको निश्-चेतना कहता है, यद्यपि व्यावहारिक रूपसे स्वीकार करता है कि यह ऊपरी सचेतन सत्तासे बहुत अधिक बड़ी, अधिक शक्तिशाली और गभीर है,—बहुत अधिक जैसा कि उपनिषदें हमारे अंदरके अति-

चेतनको सुषुप्त आत्मा कहती थीं, यद्यपि इस सुषुप्त आत्माके विषयमें कहा जाता है कि यह अनंततः अधिक बड़ी प्रज्ञा है, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, प्राज्ञ, ईश्वर है। आत्मविद्या इस गुप्त चेतनाको प्रच्छन्न आत्मा कहती है और यहां भी यह दीखता है कि इस प्रच्छन्न आत्मा-में ऊपरी सतहपर विद्यमान लघुतर आत्माकी अपेक्षा अधिक शक्ति, अधिक ज्ञान है, उसे क्रिया करनेका अधिक उन्मुक्त क्षेत्र प्राप्त है। परंतु सत्य यह है कि जो कुछ पीछेकी ओर है वह सब, यह समुद्र, जिसकी केवल एक लहर या कुछ लहरियां हमारी यह जागृत चेतना है, किसी एक शब्दद्वारा वर्णित नहीं हो सकता, क्योंकि यह बहुत जटिल, बहुविध वस्तु है। इसका कुछ अंश अवचेतन है, हमारी जागृत चेतनासे निम्नतर है, कुछ अंश इसके समान स्तरपर है पर पीछे है और इससे बहुत अधिक विशाल है; कुछ अंश ऊपर और हमारे लिये अतिचेतन है। हम जिसे अपना मन कहते हैं वह केवल एक बाहरी मन है, उपरितलीय मानसिक क्रिया है, पीछे अवस्थित उस बृहत्तर मनकी आंशिक अभिव्यक्तिका यंत्र है जिसके विषयमें साधारणतया हमें ज्ञान नहीं है और जो केवल अपने अंदर पैठनेपर ही जाना जा सकता है।

उसी तरह जिसे हम अपना प्राण कहते हैं वह केवल बाहरी प्राण है, ऊपरी क्रिया है जो उस गुप्त बृहत्तर प्राणको अंशतः प्रकाशित करती है जिसे हम केवल भीतर जानेपर जानते हैं। उसी तरह जिसे हम अपनी भौतिक सत्ता या शरीर कहते हैं वह उस महत्तर और सूक्ष्मतर अदृश्य भौतिक चेतनाका एक दृश्य प्रक्षेपमात्र है जो कहीं अधिक जटिल है, कहीं अधिक सज्ञान है, अपनी ग्रहणशीलतामें बहुत अधिक उदार-विशाल, कहीं अधिक उन्मुक्त, नमनीय और स्वतंत्र है।

यदि तुम इस सत्यको समझो और अनुभव करो तभी तुम यह अवगत होनेमें समर्थ हो सकोगे कि आंतर मन, आंतर प्राण और

आंतर भौतिक चेतनाका क्या अर्थ है। परंतु यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि यह 'आंतर' शब्द तो पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। कभी तो यह उस चेतनाको सूचित करता है जो बाहरी सत्ताके पर्देके पीछे है, जो मानसिक या प्राणिक या भौतिक चेतना भीतर है, जो कि सीधे वैश्व मन, वैश्व प्राण-शक्तियों, वैश्व भौतिक शक्तियोंके संपर्कमें है। फिर दूसरी ओर, कभी-कभी उससे हमारा मतलब होता है अंतरतम मानसिक, प्राणिक, भौतिक चेतना, अधिक विशिष्टतया जिसे सच्चा मन, सच्चा प्राण और सच्ची भौतिक चेतना कहा जाता है, जो कि अंतरात्माके अधिक समीप है और जो अत्यंत आसानी और सीधे तौरपर भागवत ज्योति तथा शक्तिको प्रत्युत्तर दे सकती है। कोई भी सच्चा योग तबतक करना संभव नहीं, कोई पूर्णयोग तो और भी कम, जबतक कि हम बाहरी सत्तासे पीछे न जायं और इस आंतर सत्ता और आंतर प्रकृतिके विषयमें सचेतन न हों। क्योंकि केवल तभी हम अज्ञ बाह्य सत्ताकी सीमाओंको भंग करनेमें समर्थ होंगे जो कि सचेतन रूपसे केवल बाह्य स्पर्शोंको ही ग्रहण करती है और अप्रत्यक्ष रूपसे बाह्य मन और और इंद्रियोंके द्वारा वस्तुओंको जानती है, और हमारेद्वारा और हमारे चारों ओर क्रीड़ा करनेवाली वैश्व चेतना तथा वैश्व शक्तियों-के विषयमें प्रत्यक्ष रूपमें सज्ञान होती है। और केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि हम प्रत्यक्ष रूपसे अपने अंदर भगवान्‌के विषयमें सचेतन हों तथा प्रत्यक्षतः भागवत ज्योति एवं भागवत शक्ति-के साथ संपर्क प्राप्त कर सकें। अन्यथा हम केवल बाहरी चिह्नों और बाहरी परिणामोंसे ही भगवान्‌को महसूस कर सकेंगे और वह एक कठिन तथा अनिश्चित मार्ग है और बहुत अनियमित तथा आकस्मिक चीज है, और यह केवल विश्वास दिलाता है, ज्ञान नहीं देता, और न प्रत्यक्ष सचेतनता और सतत उपस्थितिका ज्ञान प्रदान करता है।

इन दोनोंके प्रभेदके दृष्टांतोंका जहांतक प्रश्न है, अनुभवके दो एक-दम विपरीत ध्रुवोंसे दृष्टांत दे सकता हूं, एक तो है अत्यंत बाहरी व्यापारसे संबंधित जो यह दिखाता है कि किस तरह आंतरिक चेतना वैश्व शक्तियोंकी ओर खुलती है, यह एक ऐसा आध्यात्मिक अनुभव है जो यह सूचित करता है कि कैसे आंतर चेतना भगवान्‌की ओर खुलती है। रोगका उदाहरण ले लो। अगर हम केवल बाहरी भौतिक चेतनामें ही रहें तो हम साधारणतया यह नहीं जानते कि हम बीमार होने जा रहे हैं जबतक कि रोगके लक्षण शरीरमें प्रकट नहीं हो जाते। पर हम यदि आंतरिक भौतिक चेतनाको विकसित करें तो हम सूक्ष्म पारिपार्श्विक भौतिक वातावरणके विषयमें अवगत होते हैं और रोगकी शक्तियोंको उसके भीतरसे अपनी ओर जाते हुए अनुभव कर सकते हैं, यहांतक कि कुछ दूरसे ही उन्हें महसूस कर सकते हैं, और यदि हमने ऐसा करना सीखा हो तो हम उन्हें संकल्पके द्वारा या अन्य प्रकारसे रोक सकते हैं।

हम अपने चारों ओर एक प्राणिक भौतिक अथवा स्नायविक कोषको भी अनुभव कर सकते हैं जो शरीरसे विकीर्ण होता और उसे सुरक्षित रखता है, और हम उसके भीतरसे रास्ता बनाकर घुसनेकी चेष्टा करनेवाली विरोधी शक्तियोंको अनुभव कर सकते और हस्तक्षेप करके उन्हें रोक सकते हैं या स्नायविक कोषको और भी मजबूत बना सकते हैं। अथवा हम रोगके लक्षणोंको, जैसे, ज्वर या सर्दीको, स्थूल शरीरमें प्रकट होनेसे पहले सूक्ष्म-भौतिक कोषमें अनुभव कर सकते हैं और उन्हें शरीरमें प्रगट होनेसे पहले रोककर वहीं नष्ट कर सकते हैं। अब भागवत शक्ति, ज्योति और आनंद-का आवाहन करनेकी बातको लो। यदि हम केवल बाहरी भौतिक चेतनामें रहें तो वह अवतरित हो सकती और पर्देके पीछे कार्य कर सकती है, पर हम कुछ भी अनुभव नहीं करेंगे और बहुत दिनों बाद केवल कुछ परिणामोंको देखेंगे। अथवा, अधिक-से-अधिक, हम मनमें

एक प्रकारकी स्पष्टता और शांति, प्राणमें एक प्रकारका हर्ष, शरीरमें एक प्रकारकी सुखद स्थिति अनुभव करते हैं और भागवत स्पर्शका अनुमान करते हैं। पर, हम यदि शरीरमें जागृत हैं तो हम शरीर-के भीतरसे, अंगों, स्नायुओं, रक्त, श्वास, और सूक्ष्म शरीरके भीतरसे प्रकाश, शक्ति या आनंदको बहते हुए, अत्यंत स्थूल कोषोंको प्रभावित करते हुए तथा उन्हें सचेतन और आनंदपूर्ण बनाते हुए अनुभव करेंगे एवं प्रत्यक्ष रूपमें भागवत शक्ति और उपस्थितिका बोध प्राप्त करेंगे। ये उन हजारों दृष्टांतोंमेंसे केवल दो दृष्टांत हैं जो संभव हैं तथा जिन्हें साधक निरंतर अनुभव कर सकते हैं।

*

प्रत्येक वस्तुका एक भौतिक अंग होता है — यहांतक कि मनका एक भौतिक अंग है; एक मानसिक भौतिक अंग है जो शरीर और जड़ भागका मन है। इसी तरह भावात्मक सत्ताका एक भौतिक अंग है। भावात्मक सत्तासे पृथक् इसका अपना कोई स्थान नहीं है। मनुष्य उसे केवल तभी पहचान सकता है जब उसकी चेतना ऐसा करनेके लिये पर्याप्त मात्रामें सूक्ष्म हो जाती है।

*

हां — या कम-से-कम यह (जड़ चेतना) भौतिक चेतनाका एक पृथक् भाग है। उदाहरणार्थ, भौतिक मन संकीर्ण और सीमित है और बहुधा नासमझ होता है पर जड़ नहीं होता। पर, इसके विरुद्ध जड़तत्त्वकी चेतना जड़ होती है और साथ ही अधिकतर अवचेतन होती है — सक्रिय केवल तभी होती है जब किसी शक्तिसे चालित होती है, अन्यथा निष्क्रिय और अचल होती है। जब कोई पहले-पहल इस स्तरके सीधे संपर्कमें आता है तो शरीरमें महसूस होती है जड़ता और अचलता, प्राणिक-भौतिकमें थकावट या दुर्बलता, भौतिक मनमें प्रकाश या प्रवृत्तिका अभाव या केवल अत्यंत सामान्य विचार और प्रवेग। इस स्तरमें किसी प्रकारकी ज्योति या शक्ति उतार

लानेमें बहुत अधिक समय लगा था। पर एक बार जब यह आलोकित हो जाता है तो लाभ यह होता है कि अवचेतन चेतन बन जाता है और यह साधनाके मार्गसे एक बहुत ही मौलिक बाधाको दूर कर देता है।

*

भौतिक स्नायु स्थूल शरीरके अंग हैं पर वे सूक्ष्म शरीरतक फैले हुए हैं और इन दोनोंमें एक संपर्क है।

*

हां, सूक्ष्म शरीरमें स्नायु हैं।

हां, कोष शरीरोंके लिये व्यवहृत एक शब्द है, क्योंकि प्रत्येक एक-दूसरेके ऊपर अवस्थित है और एक अाच्छादनका कार्य करता है और दूर फेंका जा सकता है। इस तरह स्वयं भौतिक शरीर भी अन्नमय कोष कहलाता है और इसे फेंक देनेका ही नाम है मृत्यु।

१२

हमारे योगमें अवचेतनासे हमारा मतलव है हमारी सत्ताका वह भाग जो एकदम डूबा हुआ है, जिसमें कोई जाग्रत् रूपमें सचेतन और संबद्ध विचार, संकल्प या अनुभव या सुव्यवस्थित प्रतिक्रिया नहीं है, पर जो अभी भी सभी वस्तुओंके संस्कारोंको अंधभावसे ग्रहण करता है और उन्हें अपने अंदर संचित रखता है और सब प्रकारकी उत्तेजनाएं, लगातार होनेवाली, भद्दे रूपमें पुनरावर्तित या विलक्षण आकारोंका छद्मवेश धारण करनेवाली अभ्यासगत क्रियाएं भी उससे स्वप्नमें या जाग्रत् प्रकृतिमें उच्छलित हो सकती हैं। क्योंकि, यदि ये संस्कार अधिकतर स्वप्नमें एक असंवद्ध और अव्यवस्थित ढंगसे ऊपर उठ सकते हैं तो ये हमारी जाग्रत् चेतनामें भी पुराने विचारों-के, पुराने मानसिक, प्राणिक और भौतिक अभ्यासोंके अथवा उन संवेदनों, क्रियाओं, भावावेगोंकी अंध प्ररोचनाके यांत्रिक पुनरावर्तनके रूपमें भी उठ सकते हैं और अवश्य उठते भी हैं जो हमारे सचेतन विचार अथवा संकल्पमें या उनसे प्रादुर्भूत नहीं होते और जो बहुधा विचार या संकल्पके बोधों, अभिरुचि या आदेशोंके विपरीत भी होते हैं। अवचेतनाके अंदर एक तमसाच्छन्न मन है जो हठीले संस्कारों, छापों, संपर्कों, सुनिश्चित धारणाओं, हमारे भूत-कालद्वारा निर्मित अभ्यासगत प्रतिक्रियाओं, अभ्यासगत वासनाओं, संवेदनों और स्नायविक प्रतिक्रियाके बीजोंसे भरपूर अंध प्राण आदिसे भरा हुआ है और ऐसी अत्यंत अंधकारपूर्ण चीजोंसे भरा है जो शरीर-की अवस्थासे संबंधित अधिकांश चीजोंपर शासन करती हैं। यही विशेष रूपमें हमारी बीमारियोंके लिये जिम्मेदार है; दीर्घस्थायी या बार-बार होनेवाले रोग वास्तवमें मुख्यतया अवचेतना और उसकी

हठीली स्मृति तथा शरीर-चेतनापर जिस किसी चीजकी छाप पड़ गयी है उसे दुहराते रहनेकी आदतके कारण होते हैं। परंतु इस अवचेतनाका अपनी सत्ताके प्रच्छन्न भागोंसे, जैसे, आंतर या सूक्ष्म भौतिक चेतना, आंतर प्राण या आंतर मनसे भेद सुस्पष्ट रूपमें कर लेना चाहिये; क्योंकि ये सब बिलकुल ही तमसाच्छन्न या असंबद्ध या कुव्यवस्थित नहीं हैं, बल्कि केवल हमारी ऊपरी चेतनासे आच्छादित हैं। हमारी सत्ताकी ऊपरी सतह इन स्रोतोंसे कुछ-न-कुछ, आंतरिक स्पर्श, संदेश या प्रभाव निरंतर ग्रहण करती रहती है पर नहीं जानती कि वे कहांसे आते हैं।

*

अवचेतना विश्वगत और व्यक्तिगत दोनों है जैसे कि प्रकृतिके दूसरे सभी प्रधान अंग हैं। परंतु अवचेतनाके विभिन्न भाग या स्तर हैं। पृथ्वीपर जो कुछ है वह सब निश्चेतनापर आधारित है, जैसा कि इसे नाम दिया गया है, यद्यपि यह वास्तवमें निश्चेतन बिलकुल नहीं है, बल्कि यों कहें कि एक प्रकारसे पूर्ण 'अव'-चेतना है, एक अवरुद्ध या अंतर्हित चेतना है जिसमें प्रत्येक चीज है पर कुछ भी निर्मित या अभिव्यक्त नहीं है। अवचेतनाका स्थान इस निश्चेतना और सचेतन मन, प्राण और शरीरके बीचमें है। इसमें जीवनके प्रति होनेवाली उन सभी आदिम प्रतिक्रियाओंकी संभावना निहित है जो जड़तत्त्वके निष्प्राण और जड़ किनारोंसे बाहर निकलनेके लिये संघर्ष करती हैं तथा सतत विकासके द्वारा धीरे-धीरे विकसित होनेवाली और अपना स्वयं निर्माण करनेवाली चेतनाका रूप लेती हैं; यह उन्हें विचारों, बोधों अथवा सज्ञान प्रतिक्रियाओंके रूपमें नहीं धारण करती बल्कि इन चीजोंके तरल पदार्थके रूपमें धारण करती है। परंतु जो कुछ सचेतन रूपसे अनुभव किया जाता है वह सब भी अवचेतनामें जाकर डूब जाता है, निमग्न पर यथायथ स्मृतियोंके रूपमें नहीं वरन् अनुभवके धूमिल फिर भी हठीले संस्कारोंके रूपमें

डूब जाता है, और ये चीजें किसी भी समय स्वप्नके रूपमें, पुराने विचार, अनुभव, क्रिया आदिके यांत्रिक पुनरावर्तनके रूप, क्रिया और घटनाके रूपमें फूट निकलनेवाली 'ग्रंथियों' (Complexes) आदिके रूपमें ऊपर आ सकती हैं। अवचेतना ही वह मुख्य कारण है जिससे सभी चीजें पुनरावर्त्तित होती हैं और बाहरी रूपके सिवा कोई चीज कभी परिवर्तित नहीं होती। यही कारण है कि लोग कहते हैं कि चरित्र बदला नहीं जा सकता, इस बातका भी कारण है कि जिस चीजके विषयमें लोग आशा करते हैं कि बराबरके लिये चली गयी है वह लगातार वापस आती रहती है। सभी बीज वहां हैं और मन, प्राण और शरीरके सभी संस्कार वहां मौजूद हैं,—यही मृत्यु और रोगका प्रधान आश्रयस्थल है और अज्ञानका अंतिम किला (ऊपरसे देखनेमें अभेद्य) है। जिन चीजोंको पूर्णतः समाप्त किये बिना दबा दिया जाता है वे सब भी वहां डूब जाती हैं ऐसे बीजके रूपमें बनी रहती हैं जो किसी भी मुहूर्त्त ऊपर उमड़ आने या अंकुरित होनेके लिये तैयार रहता है।

*

अवचेतना एक छिपी हुई और अनभिव्यक्त अस्पष्ट चेतना है जो हमारी सभी सचेतन भौतिक क्रियाओंके नीचे कार्य करती है। जिस तरह हम जिसे अतिचेतना कहते हैं, वह वास्तवमें ऊपरकी एक उच्चतर चेतना है जिसमेंसे चीजें हमारी सत्तामें अवतरित होती हैं, ठीक उसी तरह अवचेतना शरीर-चेतनासे नीचे है और वहांसे चीजें भौतिक, प्राणिक और मानसिक चेतनामें ऊपर उठ आती हैं।

ठीक जिस तरह उच्चतर चेतना हमारे लिये अतिचेतन है और हमारी सभी आध्यात्मिक संभावनाओं तथा प्रकृतिको सहारा देती है, उसी तरह अवचेतना हमारी भौतिक सत्ताका आधार है और जो कुछ भौतिक प्रकृतिमें ऊपर उठ आता है उस सबका पोषण करता है।

मनुष्य सामान्यतया अपनी सत्ताके इन लोकोंके विषयमें सचेतन

नहीं होते, पर साधनाके द्वारा वे इनके विषयमें अवगत हो सकते हैं ।

अवचेतना जीवनके हमारे भूतकालीन सभी अनुभवोंके संस्कार अपने अंदर बनाये रखती है और वे वहांसे स्वप्न-रूपमें ऊपर आते हैं: साधारण निद्रामें पैदा होनेवाले अधिकांश स्वप्न अवचेतन संस्कारों द्वारा निर्मित होते हैं।

हमारी भौतिक चेतनाके अंदर जो एक-सी ही चीजोंके बार-बार घटित होनेकी प्रबल आदत है जिसके कारण कि उसके अभ्यासोंसे छुट्टी पाना कठिन होता है, उसका कारण अधिकांशमें इस अवचेतना-का सहारा होता है। अवचेतना अयुक्तिसंगत अभ्यासोंसे भरी हुई है।

जब प्रकृतिके अन्य सभी भागोंसे वस्तुएं त्याग दी जाती हैं तो वे या तो हमारे चारों ओरकी पारिपार्श्विक चेतनामें चली जाती हैं जिसके द्वारा हम दूसरोंके साथ और वैश्व प्रकृतिके साथ आदान-प्रदान करते हैं और वहांसे वापस आनेका प्रयास करती हैं, अथवा वे अव-चेतनामें निमग्न हो जाती हैं और वहांसे दीर्घकालतक इस प्रकार चुप बैठनेके बाद भी जब हम यह समझने लगें कि वे चली गयी हैं, ऊपर आ सकती हैं।

जब भौतिक चेतना रूपांतरित होने लगती है तब प्रधान बाधा अवचेतनासे आती है। यह निरंतर ही तामसिकता, दुर्बलता, अंधता, बुद्धिहीनताको बनाये रखती और वापस लाती रहती है जो भौतिक मन और प्राणको पीड़ित करती रहती हैं अथवा अस्पष्ट भयों, कामनाओं, क्रोधों, भौतिक प्राणकी लालसाओं, अथवा बीमारियों, मूढ़ताओं, दुःख-दर्दों, असमर्थताओंको बनाये रखती और वापस लाती रहती है जिन-की ओर शरीर-प्रकृति उन्मुख होती हैं।

यदि ज्योति, शक्ति और श्रीमांकी चेतनाको शरीरमें उतारा जाय तो वह अवचेतनामें भी प्रवेश कर सकती हैं और उसकी अंधता और बाधाको परिवर्त्तित कर सकती हैं।

जब कोई चीज अवचेतनासे इतनी पूर्णताके साथ मिटा दी जाती

है कि उसका कोई बीज बाकी नहीं रह जाता और पारिपार्श्विक चेतनासे इतनी पूर्णताके साथ बाहर फेंक दी जाती है कि वह फिर वापस न आ सके तो केवल तभी हम निस्संदिग्ध होकर कह सकते हैं कि हमने सदाके लिये उसे समाप्त कर दिया है।

*

स्पष्ट ही पाताल अवचेतनाका ही एक नाम है—वहांकी सत्ताओंका "सिर" नहीं होता; कहनेका मतलब, वहां कोई मानसिक चेतना नहीं है; सभी मनुष्योंकी सत्तामें इस प्रकारका एक अवचेतन स्तर है और वहींसे सब प्रकारकी युक्तिविरोधी और अज्ञानपूर्ण (मस्तक हीन) अंध प्रेरणाएं, प्रवृत्तियां, स्मृतियां आदि उठती हैं जो उनके कार्यों और भावनाओंपर प्रभाव डालती हैं पर उनके सच्चे मूलस्रोतका पता नहीं रहता। रातको बहुतेरे असंबद्ध स्वप्न इस जगत् या लोकसे आते हैं। ऊपरका जगत् सत्ताका अतिचेतन लोक है—मानव-चेतनासे ऊपर है—उस तरहके बहुतसे लोक हैं; ये सब दिव्य लोक हैं।

१३

यौगिक केंद्र या चक्र संख्यामें सात हैं।

हमारे योगकी प्रक्रियामें प्रत्येक केंद्रका एक सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक उपयोग और सामान्य कार्य है जिसपर उनकी सभी विशिष्ट शक्तियां और क्रियावलियां आधारित हैं। मूलाधार नीचे अवचेतनातक भौतिक सत्तापर अधिकार रखता है; स्वाधिष्ठान निम्नतर प्राणपर शासन करता है; नाभिपद्म या मणिपुर बृहत्तर प्राणको नियंत्रित करता है; हृदयचक्र — हृदयपद्म या अनाहत भावमय सत्ताको शासित करता है; विशुद्ध चक्र व्यंजनात्मक और बाह्य आकार देनेवाले मनपर प्रभाव रखता है; भौहोंके बीचका आज्ञाचक्र सक्रिय मन, संकल्प, सूक्ष्म दर्शन, मानसिक रूपनिर्माण आदिकी क्रियाको संचालित करता है; सहस्रदल पद्म ऊपरके उच्चतर चिंतनशील मनपर अधिकार रखता है, उससे भी उच्चतर आलोकित मनको धारण करता है और अपने उच्चतम शिखरपर संबोधिके प्रति उद्घाटित होता है जिसके द्वारा अथवा फिर सीधे अपने प्रबल प्रवाहके द्वारा अधिमानस बाकी सत्ताके साथ आदान-प्रदान कर सकता है या तत्काल संपर्क स्थापित कर सकता है।

*

जब हम मस्तक, हृदय आदिमें पुरुषकी बात कहते हैं, हम रूपकका व्यवहार कर रहे होते हैं। जिस मूलाधारसे कुंडलिनी ऊपर उठती है वह भौतिक शरीरमें नहीं है, बल्कि सूक्ष्म शरीरमें है (सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें जीव गभीर समाधिके समय जाता है अथवा अधिक मौलिक रूपमें, मृत्युके समय जाता है); उसी तरह और सब

केंद्र भी हैं। परंतु सूक्ष्म शरीर चूंकि सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश करता और उसके साथ घुल-मिल जाता है, इसलिये इन चक्रोंसे मिलते-जुलते कुछ केंद्र शुद्ध भौतिक शरीरमें हैं। अतएव रूपककी भाषामें हम कहते हैं कि शरीरके इस या उस केंद्रमें पुरुष है। इसी मेलके कारण, फिर, जब आनंद या कोई दूसरी चीज सत्तामें नीचे उतरती है तो वह इस सूक्ष्म शरीरमें ही व्याप्त हो जाती है, पर उसके द्वारा वह स्थूल शरीर और उसकी चेतनातक पहुंच जाती है जिससे कि वह इस तरह अनुभूत होती है मानो शरीरमें फैल गयी हो। परंतु यह सब यह कहनेसे बहुत भिन्न है कि आत्मा एक ग्रंथिमें रहता है। स्थूल शरीर एक इंजिन है, आत्माके लिये जगत्पर कार्य करने और संपर्क स्थापित करनेका एक साधन है और यह साधन-यंत्रका केवल एक छोटासा भाग है।.......

*

अतिमानस-चेतना शरीरमें व्यवस्थित नहीं है, इसलिये उसके लिये कोई अलग चक्र नहीं है। परंतु जो कुछ मनके ऊपरसे आता है वह सब अपने गमनके लिये सहस्रारका उपयोग करता है और इसलिये वहां कोई चीज खुल जाती है।

*

मस्तकका केंद्र खुला होनेपर साधारण मन और ऊपरकी उच्चतर चेतनाके बीचके ढक्कनकी कठिनाई दूर कर देता है। यदि आज्ञा-चक्र भी खुला हो तो उच्चतर चेतना और आंतरिक मन तथा बाहरी मन (गलेके चक्र) के बीच भी स्पष्ट संपर्क स्थापित करना संभव होता है। यही ज्ञान और मनकी प्रोज्ज्वलता और रूपांतरकी उपलब्धिकी शर्त्त है। हृदय-केंद्रका अधिकार चैत्य और प्राणपर होता है — उसके खुलनेपर प्राणमें चैत्य प्रभाव कार्य करने लगता है और अंतमें चैत्य पुरुष सामने आ जाता है।

*

मस्तिष्क केवल भौतिक चेतनाका एक केंद्र है। जबतक मनुष्य भौतिक मनमें निवास करता है अथवा शरीर-चेतनाके साथ तादात्म रहता है तबतक अपनेको मस्तिष्कमें अवस्थित अनुभव करता है। उस समय मनुष्य सहस्रारके द्वारा मस्तिष्कमें ग्रहण करता है। जब मनुष्य शरीरमें रहना बंद कर देता है तब मस्तिष्क कोई केंद्र नहीं रहता बल्कि संपर्क स्थापित करनेकी केवल एक निष्क्रिय और मौन प्रणालिका रह जाता है।

*

अंतर्दर्शनका केंद्र भौंहोंके बीच ललाटके चक्रमें है। जब यह खुलता है तो मनुष्यको आंतर दर्शन प्राप्त होता है, वह वस्तुओं और मनुष्योंका भीतरी रूप और प्रतिमूर्त्ति देखता है और केवल बाहरसे ही नहीं, भीतरसे वस्तुओं और मनुष्योंको समझने लगता है, संकल्पकी एक शक्ति विकसित कर लेता है जो वस्तुओं और लोगों आदिपर आंतरिक (यौगिक) ढंगसे भी कार्य करती है। इसका उद्घाटन प्रायः साधारण मानसिक चेतनाके विपरीत यौगिक चेतनाका प्रारंभ होता है।

*

हां, तृतीयनेत्र वहीं (ललाटके केंद्रमें) खुलता है—यह गुह्य अंतर्दर्शन और उसके साथ संलग्न गुह्य शक्तियोंको सूचित करता है—इसका संबंध आज्ञाचक्रसे है।

*

वागिंद्रिय भौतिक मनका एक यंत्र है अथवा बाह्य रूप देनेवाले मनको अभिव्यक्त करनेवाली है।

*

स्थूल हृदय बायीं ओर है, पर योगका हृदय केंद्र, हृच्चक्र वक्ष-स्थलके मध्यमें है।

*

हृदय सत्ताका केंद्र है और बाकी अंगोंको संचालित करता है, क्योंकि चैत्य पुरुष वहां है। बस, इसी अर्थमें सब कुछ वहांसे प्रवाहित होता है, क्योंकि चैत्य पुरुष ही प्रत्येक बार अपने लिये एक नवीन मन, प्राण और शरीरकी सृष्टि करता है।

*

यौगिक दृष्टिसे, मनो-देह-विज्ञान आदि-आदिकी दृष्टिसे उदर, हृदय और आंत प्राणिक क्रियाओंके स्थान हैं, भौतिक चेतनाके नहीं — यहींपर क्रोध, भय, प्रेम, घृणा तथा दूसरे पशुओंके मनोवैज्ञानिक विशेष गुण तरंगायित होते हैं और भौतिक तथा नैतिक पाचनको विगाड़ देते हैं। मूलाधार यथार्थ भौतिक चेतनाका स्थान है।

*

यह (मेरुदंडका सिरा) भौतिक केंद्रका स्थान है जो काम-केंद्र भी है। इसका शेषबिंदु मूलाधारके अंतमें है और यह वहांसे आगे भी फैला रहता है — कामेंद्रिय और उसके कार्यको नियंत्रित करता है।
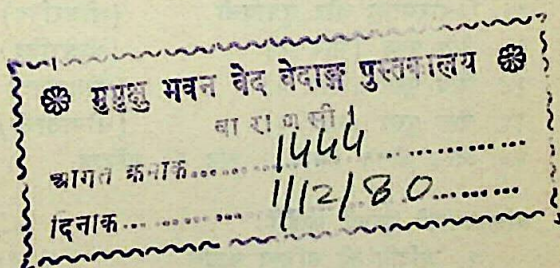
हमारा प्रकाशन

१. सफेद गुलाब (भाग १)	(श्रीमांके पत्र)	२.५०
२. सफेद गुलाब (भाग २)	,,	२.५०
३. मृत्यु और उसपर विजय	(श्रीमां-श्रीअरविंद)	३.००
४. मानव एकताका स्वरूप	(श्रीअरविंद)	२.५०
५. अवतार	(श्रीअरविंद)	२.००
६. श्रीमाताजीकी बातचीत (भाग १)		३.००
७. जीवन-विज्ञान	(श्रीमां)	२.५०
८. ध्यान और एकाग्रता	(श्रीमां-श्रीअरविंद)	३.००
९. प्राण और उसका रूपांतर (भाग १)	(श्रीअरविंद)	२.५०
१०. प्राण और उसका रूपांतर (भाग २)	(श्रीअरविंद)	३.००
११. श्रीमाताजीकी बातचीत (भाग २)		३.००
१२. श्रीमाताजीकी बातचीत (भाग ३)		३.५०
१३. आंतरिक परिपूर्णता	(श्रीमां)	२.५०
१४. योगसाधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व	(श्रीअरविंद)	३.००
१५. भागवत मुहूर्त्त	(श्रीअरविंद)	३.५०
१६. विचारमाला और सूत्रावली	(श्रीअरविंद)	३.५०
१७. चैत्य पुरुष (भाग १)	(श्रीअरविंद)	२.५०
१८. चैत्य पुरुष (भाग २)	(श्रीअरविंद)	३.००
१९. चैत्य पुरुष (भाग ३)	(श्रीमाताजी)	२.५०
२०. दिव्य जीवन (भाग २, खंड १) सजिल्द		१६.००

पत्रिकाओंकी पुरानी फाईलें :

१. 'अदिति' की सजिल्द फाइलें	१०.०० प्रति वर्ष
२. 'अर्चना' के सात अंकोंका सेट	२७.०० प्रति सेट

मिलनेका पता :

अदिति कार्यालय, पांडिचेरी-२
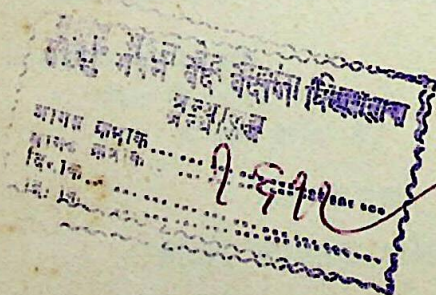
"हमारी बाहरी ऊपरी प्रकृतिमें मन, चैत्य पुरुष, प्राण और भौतिक सत्ता एक साथ मिले-जुले हैं और अपनी प्रकृतिके निर्माणको तथा इन अंगों-के परस्पर-संबंध और परस्पर-क्रियाको समझने-के लिये आत्मनिरीक्षण, आत्म-विश्लेषण, गहरे अन्वेषण तथा विचार, अनुभव और आवेगके धागोंको सुलझानेकी एक प्रबल शक्तिकी आवश्यकता होती है। परंतु जब हम अंदर पैठते हैं, तो ऊपरी तलकी इस समूची क्रियाको जान जाते हैं और हमारी सत्ताके ये भाग बिलकुल स्पष्ट रूपमें एक-दूसरेसे पृथक् दिखायी देते हैं।"

— श्रीअरविंद

अदिति पुस्तक-माला — पुष्प १९

मूल्य रु. २.५०